था। महाभारतयुद्धका समय था। इन पक्षियोंकी माता दैववश युद्धक्षेत्रमें जा पहुँची। उस समय अर्जुन और भगदत्तमें युद्ध छिड़ा हुआ था। संयोगवश अर्जुनका एक बाण उस पक्षिणीको लगा, जिससे उसका पेट फट गया और उसमेंसे चार अंडे पृथ्वीपर गिरे। उनकी आयु शेष थी, अतः वे फूटे नहीं। बल्कि पृथ्वीपर ऐसे गिरे, मानो रूईके ढेरपर पड़े हों। उन अंडोंके गिरते ही भगदत्तके हाथीकी पीठसे एक बहुत बड़ा घंटा भी टूटकर गिरा, जिसका बन्धन बाणोंके आघातसे कट गया था। यद्यपि वह अंडोंके साथ ही गिरा था, तथापि उन्हें चारों ओरसे ढकता हुआ गिरा और धरतीमें थोड़ा-थोड़ा धँस भी गया। इस प्रकार उन अंडोंकी बड़े विचित्र ढंगसे रक्षा हो गयी। शास्त्रोंमें ठीक ही कहा है— '**अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।**' दैव—भगवान्‌की अलौकिक शक्ति जिसकी रक्षामें नियुक्त है, उसका भला क्या बिगड़ सकता है। और जिसकी आयु शेष हो चुकी है, उसकी कितनी ही रक्षा की जाय—वह बच नहीं सकता। अस्तु;

युद्ध समाप्त हो गया। अंडे घंटेके भीतर ही पृथ्वीका और सूर्यका ताप पाकर पक गये और उनमेंसे पक्षिशावक निकल आये। इधर दैवकी प्रेरणासे एक ऋषि उधर जा निकले। उन्होंने घंटेमेंसे बच्चोंकी आवाज सुनकर कौतूहलवश घंटेको उखाड़ लिया और उन बच्चोंको अपने आश्रममें ले जाकर एक सुरक्षित स्थानमें रखवा दिया। उन्होंने अपने शिष्योंसे कहा कि 'ये कोई सामान्य पक्षी नहीं हैं। संसारमें दैवका अनुकूल होना महान् सौभाग्यका सूचक होता है।' उन्होंने यह भी कहा कि 'यद्यपि किसीकी रक्षाके लिये अधिक प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं है—क्योंकि सभी जीव अपने कर्मोंसे ही मारे जाते हैं और कर्मोंसे ही उनकी रक्षा होती है—फिर भी मनुष्यको शुभकार्यके लिये यत्न अवश्य करना चाहिये; क्योंकि पुरुषार्थ करनेवाला (असफल होनेपर भी) निन्दाका पात्र नहीं होता।' इस प्रकार उन पक्षियोंके जन्म-वृत्तान्तसे बड़ी सुन्दर शिक्षा मिलती है।

पक्षियोंके पूर्वजन्मका वृत्तान्त तथा शरणागतवत्सलताका अपूर्व उदाहरण

पक्षी जब कुछ बड़े हुए, तब वे सहसा मनुष्योंकी भाँति बोलने लगे। उन्होंने अपने पालक ऋषिको अपने पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनाया और अपने पक्षियोनिमें आनेका कारण भी बताया। उन्हें अपने पूर्वजन्मकी बातें भलीभाँति याद थीं। उन्होंने कहा कि वे पूर्वजन्ममें ऋषिकुमार थे। उनके पिता बड़े भारी तपस्वी, उदारचेता और इन्द्रियजयी थे। एक दिनकी बात है—देवराज इन्द्र उनकी परीक्षाके लिये एक विशालकाय वृद्ध पक्षीका रूप धारणकर उनके पास आये और बोले—'मुझे बड़ी भूख लगी है।' शरणागतवत्सल मुनिके पूछनेपर कि उसके लिये कैसे आहारकी व्यवस्था की जाय, पक्षीने बताया कि मुझे मनुष्यका मांस विशेष प्रिय है। ऋषि वचनबद्ध थे, इसलिये उन्होंने अपने वचनका पालन करनेके लिये उसी समय अपने चारों पुत्रोंको बुलाया और उन्हें आज्ञा दी कि वे अपने शरीरके मांससे पक्षीकी क्षुधाको शान्त करें। ऋषिकुमार पिताकी इस कठोर आज्ञाका पालन करनेके लिये तैयार नहीं हुए। इसपर पिताने उन्हें पक्षी होनेका शाप दिया और स्वयं अपनी अन्त्येष्टि क्रिया करके उस पक्षीका आहार बननेके लिये तैयार हो गये। उन्होंने उस समय पक्षीसे जो वचन कहे, वे सबके लिये हृदयमें धारण करने योग्य हैं। उन्होंने कहा—'ब्राह्मणका ब्राह्मणत्व इसीमें है कि वह अपने वचनका पूर्णरूपसे पालन करे। दक्षिणायुक्त यज्ञों तथा अन्य कर्मोंके अनुष्ठानसे भी ब्राह्मणोंको वह पुण्य नहीं प्राप्त होता, जो सत्यकी रक्षासे होता है।' तब इन्द्र अपने रूपमें प्रकट होकर बोले कि 'मैंने आपकी परीक्षाके लिये पक्षीका रूप धारण किया था, इसके लिये मुझे क्षमा करें।'अतिथिवत्सलता और सत्यकी रक्षाके समान और कोई महान् तप नहीं है। सत्यकी रक्षाके लिये ऋषिने अपने प्राणोपम पुत्रोंकी भी परवा नहीं की और अपना शरीर भी अतिथिके अर्पण कर दिया। धन्य त्याग! आज यह त्यागकी भावना हमारे देशसे उठती जा रही है, इसीलिये

हमारी यह दुर्दशा हो रही है। जबसे हमें धर्मकी अपेक्षा प्राण अधिक प्यारे लगने लगे, तभीसे हमारा पतन प्रारम्भ हो गया। अस्तु, इस प्रकार यद्यपि पिताके शापसे वे ऋषिकुमार पक्षी हो गये, फिर भी पिताकी कृपासे उन्हें ज्ञान बना रहा और अन्तमें उस ज्ञानके बलसे उन्होंने परम सिद्धि प्राप्त की।

भोगोंके बाहुल्यसे पापमें प्रवृत्ति और पापाचारसे हानि

महामुनि जैमिनिने उन महाज्ञानी पक्षियोंसे जो प्रश्न किये, उनमें एक प्रश्न यह था कि 'सती-शिरोमणि द्रौपदी पाँच भाइयोंकी पत्नी कैसे हुई?' इस प्रकारकी शङ्का आजकल भी महारानी द्रौपदीके सम्बन्धमें की जाती है। पक्षियोंने इसका बड़ा सुन्दर उत्तर दिया। उन्होंने बताया कि प्राचीन कालकी बात है, देवराज इन्द्रने त्वष्टा प्रजापतिके पुत्र विश्वरूपको मार डाला। इस अन्यायके कारण इन्द्रका तेज धर्मराजके शरीरमें प्रवेश कर गया। दूसरी बार उन्होंने विश्वरूपके भाई वृत्रका वध किया और इस ब्रह्महत्याके फलस्वरूप उनका सारा बल नष्ट होकर वायुदेवतामें समा गया। तीसरी बार जब इन्द्रने महर्षि गौतमका रूप धारण करके उनकी धर्मपत्नी अहल्याका सतीत्व नष्ट किया, उस समय उनका रूप भी नष्ट हो गया। उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गका लावण्य, जो बड़ा ही मनोरम था, व्यभिचार-दोषसे दूषित देवराज इन्द्रको छोड़कर दोनों अश्विनीकुमारोंके पास चला गया। इस प्रकार इन्द्र अपने धर्म, तेज, बल और रूपसे हाथ धो बैठे। इस आख्यानसे हमें दो शिक्षाएँ मिलती हैं—एक तो यह कि भोगोंका बाहुल्य होनेपर देवताओंकी बुद्धि भी मारी जाती है। वास्तवमें अर्थ ही अनर्थकी जड़ है। शास्त्रोंने ठीक ही कहा है—

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥

'जवानी, धन, प्रभुता और अविवेक—इनमेंसे एक-एक भी अनर्थका मूल है। फिर जहाँ इन चारोंकी चण्डालचौकड़ी एकत्र हो जाय, वहाँ तो फिर कहना ही क्या।'

दूसरी शिक्षा यह मिलती है कि परस्त्रीगमनरूप व्यभिचारसे पुरुषधर्म, तेज, बल, और रूप—चारों गवाँ बैठता है, चाहे वह इन्द्र ही क्यों न हो। अतः जो इन चारोंको बनाये रखना चाहता है, उसे परस्त्रीगमनरूप पापसे सदा बचते रहना चाहिये। अस्तु,

द्रौपदीके पाँच पति वस्तुतः एक ही व्यक्ति थे

इन्द्रको धर्म, तेज, बल और रूपसे हीन देख दैत्योंने उन्हें जीतनेका उद्योग आरम्भ किया। उन दिनों पृथ्वीपर जो अधिक पराक्रमी राजा थे, उन्हींके कुलमें देवराजको जीतनेकी इच्छा रखनेवाले अत्यन्त बलशाली दैत्य उत्पन्न हुए। देखते-देखते पृथ्वी उनके भारसे आक्रान्त हो गयी और देवताओंके पास जाकर उसने उन्हें अपनी दुःखगाथा सुनायी। उसकी प्रार्थनापर सम्पूर्ण देवता अपने-अपने तेजके अंशसे पृथ्वीपर अवतार लेने लगे। इन्द्रके शरीरसे जो तेज प्राप्त हुआ था, उसे स्वयं धर्मराजने कुन्तीदेवीके गर्भमें स्थापित किया। उसीसे महातेजस्वी राजा युधिष्ठिरका जन्म हुआ। फिर वायुदेवताने इन्द्रके ही बलको कुन्तीके उदरमें स्थापित किया। उससे भीम उत्पन्न हुए। इन्द्रके आधे अंशसे अर्जुनका जन्म हुआ। इसी प्रकार इन्द्रका ही सुन्दर रूप अश्विनी-कुमारों द्वारा माद्रीके गर्भमें स्थापित किया गया था, जिससे अत्यन्त कान्तिमान् नकुल और सहदेव उत्पन्न हुए। इस प्रकार देवराज इन्द्र ही पाँच रूपोंमें अवतीर्ण हुए थे और उनकी पत्नी शचीदेवी ही महाभागा कृष्णा (द्रौपदी) के रूपमें होमकी अग्निसे प्रकट हुई थीं। अतः कृष्णा एकमात्र इन्द्रकी ही पत्नी थी, अन्य किसीकी नहीं। योगीश्वर भी योगबलसे एक ही कालमें अनेक शरीर धारण कर लेते हैं। फिर इन्द्र तो देवता थे, उनके पाँच शरीर धारण करनेमें कौन आश्चर्य है? द्रौपदीके पाँच पति होनेपर भी वह पतिव्रताओंमें अग्रगण्य कहलायी, इसका यही रहस्य है। शास्त्रोंका तात्पर्य भलीभाँति न जाननेके कारण ही हमारे इतिहासके सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी शङ्काएँ उठायी जाती हैं।

महाराज हरिश्चन्द्रका सत्य-पालनके लिये कष्ट भोगना

इसके अनन्तर इक्ष्वाकुवंशी महाराज हरिश्चन्द्रका प्रसिद्ध आख्यान है। महाराज हरिश्चन्द्र बड़े धर्मात्मा थे। उनके राज्यकालमें कभी अकाल नहीं पड़ा, किसीको रोग नहीं हुआ, कोई भी अकालमृत्युसे नहीं मरा और पुरवासियोंकी कभी अधर्ममें रुचि नहीं हुई। लोकोक्ति प्रसिद्ध है—***'यथा राजा तथा प्रजा।'*** बातों-ही-बातोंमें राजाने महर्षि विश्वामित्रको अपनी स्त्री, पुत्र, धर्म और शरीरको छोड़कर बाकी सब कुछ दे दिया; और जिस समय उन्होंने यह महान् दान दिया, उस समय उनके मुखपर विषाद अथवा चिन्ताका कोई चिह्न न था। धन्य उदारता ! यही नहीं, ऋषिकी आज्ञासे उन्होंने राजोचित वेषका भी परित्याग कर दिया और वे वल्कल-वस्त्र धारणकर अपनी पत्नी और कुमारके साथ राजधानीसे चल दिये। ऋषिने इसपर भी उनका पिण्ड नहीं छोड़ा। उन्होंने राजासे राजसूय-यज्ञकी दक्षिणा माँगी और राजाने एक महीने बाद उसे देनेका वचन दिया। राजाको इस प्रकार अपनी रानी और सुकुमार बच्चेके साथ पैदल जाते देख उनकी समस्त प्रजा व्याकुल हो उठी। उनके आश्वासनके लिये राजा थोड़ी देर रुक गये। इसपर विश्वामित्रको बड़ा क्रोध आया और उन्होंने राजाको बहुत कुछ बुरा-भला कहा। परन्तु धर्मभीरु राजा धैर्यपूर्वक सब कुछ सहते रहे, उन्होंने चूँतक नहीं की।

हरिश्चन्द्रका स्त्री-पुत्रसहित अपनेको बेच देना

राजा घूमते-घूमते काशी पहुँचे। उन्होंने सोचा—'काशी भगवान् विश्वनाथकी पुरी है, इसपर किसी मनुष्यका अधिकार नहीं हो सकता। इस प्रकार यह नगरी अवश्य मेरे राज्यकी सीमासे बाहर है, अतः यहाँ रहनेमें मेरे लिये कोई आपत्तिकी बात नहीं हो सकती।' यह सोचकर ज्यों ही उन्होंने नगरमें प्रवेश किया, त्यों ही उन्हें विश्वामित्र दिखायी दिये। दक्षिणाके लिये उनका बेहद तकाजा देखकर राजाने निरुपाय हो अपनेको बेचनेका निश्चय किया। किन्तु रानीका बहुत अधिक आग्रह देख पहले उन्होंने रानीको ही एक

ब्राह्मणके हाथ बेच दिया। परन्तु बालक रोहिताश्व किसी प्रकार भी अपनी माताको छोड़ नहीं रहा था; इसपर रानीने बिलखकर ब्राह्मणसे उस बालकको भी खरीद लेनेके लिये प्रार्थना की और वे दोनों उसके साथ हो लिये। राजाने हृदयको कठोर बनाकर उस ब्राह्मणसे अपनी प्यारी पत्नी और प्राणोपम पुत्रका मूल्य ग्रहण किया और उसे ऋषिके हवाले किया। किन्तु ऋषिको उतने द्रव्यसे सन्तोष क्यों होने लगा। वे तो हरिश्चन्द्रको कष्टोंकी आगमें तपाकर खरा सोना बनाना चाहते थे। आखिर राजाने स्वयं भी चाण्डाल बने हुए धर्मकी दासता स्वीकार की और इस प्रकार विश्वामित्रके ऋणसे मुक्ति पायी। चाण्डाल उन्हें बाँधकर डंडोंकी मारसे अचेत-सा करता हुआ अपने घर ले गया और श्मशान भूमिपर मुर्दोंके कफन बटोरनेके काममें नियुक्त किया। एक दिन रोहिताश्वको साँप काट गया, जिससे उसकी तत्काल मृत्यु हो गयी। रानी उस मृत बालकको गोदमें लेकर उसी श्मशानपर आयी और रोने लगी। दोनों एक दूसरेको पहचान न सके। रोते-रोते अनायास रानीके मुँहसे अपने पतिका नाम निकल पड़ा। अब तो राजाने उसको तथा अपने पुत्रको भी पहचान लिया और वे भी जोर-जोरसे रोने लगे। उन्हें इस प्रकार अपने पुत्रका नाम लेकर रोते देख रानी भी राजाको पहचान गयी और घोर विलाप करने लगी। अन्तमें राजाने अत्यन्त दुःखी होकर अपने पुत्रकी चिताग्निमें प्रवेश करनेका निश्चय किया और रानी भी उनके साथ जलनेको प्रस्तुत हो गयी। इतनेमें ही इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता धर्मको अगुआ बनाकर वहाँ उपस्थित हुए और राजाको अग्निमें प्रवेश करनेसे रोक दिया। इसके बाद देवराज इन्द्रने चिताके ऊपर आकाशसे अमृतकी वर्षा की, जिससे रोहित तुरंत जी उठा और राजाने उसे अपनी छातीसे लगा लिया।

राजाका समस्त अयोध्यावासियोंके साथ स्वर्ग-गमन

देवताओंने जब राजासे दिव्यलोकोंमें चलनेके लिये प्रार्थना की, उस समय भी राजा धर्मको नहीं भूले। उन्होंने विनयपूर्वक कहा—'देवराज! मैं

तो चाण्डालका क्रीत दास हूँ, स्वतन्त्र तो हूँ नहीं। फिर उनसे बिना आज्ञा लिये तथा उनके ऋणसे उऋण हुए बिना मैं कैसे जा सकता हूँ।' उन्होंने यह भी कहा कि 'अयोध्यावासी सब-के-सब मेरे विरहमें संतप्त हैं, उन्हें छोड़कर मैं दिव्यलोकोंमें कैसे जा सकता हूँ। हाँ, यदि वे लोग भी मेरे साथ चल सकें, तब तो मैं भी चल सकता हूँ, अन्यथा नहीं। देवेश ! यदि मैंने कुछ भी पुण्य किया हो तो उसका फल मुझे उन सबके साथ ही मिले, उसमें उनका समान अधिकार हो।'धन्य प्रजावत्सलता ! बस, फिर क्या था। देखते-देखते देवराज इन्द्रने स्वर्गसे भूलोकतक करोड़ों विमानोंका ताँता बाँध दिया। महर्षि विश्वामित्र भी वहाँ आ गये थे। उन्होंने कुमार रोहितको अयोध्यापुरीमें ले जाकर राजसिंहासनपर अभिषिक्त किया और सब लोग उन्हें पिताके स्थानपर देख बड़े प्रसन्न हुए। तदनन्तर सारे-के-सारे अयोध्यावासी अपने पुत्र, भृत्य एवं स्त्रियोंके सहित विमानोंपर आरूढ़ हो स्वर्गको चले गये। धन्य नरेश ! राजा हो तो ऐसा ही हो।

राजा जनक और यमदूतका संवाद

इसके बाद पक्षी जैमिनिको एक पिता-पुत्रका संवाद सुनाते हैं, जिसमें पुत्र अपने पिताके सामने पहले मृत्युके कष्टोंका वर्णन करता है। इसके अनन्तर यमलोकके मार्गका वर्णन करता हुआ जीवके जन्मका वृत्तान्त सुनाता है और फिर नानाविध नरकोंका वर्णन करता है। इसके अनन्तर इसी संवादके अन्तर्गत राजा जनक और यमदूतका संवाद है, जिसमें राजाके पूछनेपर यमदूत उन्हें भिन्न-भिन्न नरकोंकी प्राप्तिका कारण बतलाता है और फिर यह भी बतलाता है कि किस पापके फलस्वरूप कौन-सी योनि प्राप्त होती है। इस प्रसङ्गका इतिहास भी मनन करने योग्य है। प्रसिद्ध जनकवंशमें विपश्चित् नामके एक राजा हो गये हैं। उन्हें केवल एक बार ऋतुमती भार्याको ऋतुदान न देनेके अपराधमें भयंकर नरक देखना पड़ा था। इस एक पापके सिवा उनसे जीवनमें कोई भी पाप नहीं बना था। अतः कुछ ही क्षणोंके लिये उन्हें नरकका

दृश्य दिखाकर यमदूत उन्हें पुण्यलोकोंमें ले जाने लगे। ज्यों ही वे वहाँसे जानेको उद्यत हुए, त्यों ही उस नरकके प्राणी एक साथ चिल्ला उठे—'महाराज! कृपा करके दो घड़ी और ठहरिये। आपके शरीरको छूकर बहनेवाली हवा हमलोगोंको सुख पहुँचाती है और हमारे शरीरके संताप और वेदनाको हर लेती है।' यमदूतने राजाको बताया कि 'आपका शरीर देवताओं, पितरों, अतिथियों और भृत्यजनोंसे बचे हुए अन्नके सेवनसे पुष्ट हुआ है तथा आपका मन भी उन्हीं सबकी सेवामें संलग्न रहा है; इसीलिये आपके शरीरका स्पर्श करके बहनेवाली वायु नारकी जीवोंको सुख प्रदान करती है और उसके लगनेसे उन्हें नरककी यातना उतनी कष्टदायक नहीं प्रतीत होती।'

विपश्चित्का अपूर्व त्याग

राजाने कहा, 'भाई! मेरा तो ऐसा विचार है कि पीड़ित प्राणियोंको दुःखसे मुक्त करके उन्हें शान्ति प्रदान करनेसे जो सुख मिलता है, वह मनुष्योंको स्वर्गलोक अथवा ब्रह्मलोकमें भी नहीं प्राप्त होता। यदि मेरे समीप रहनेसे इन दुःखी जीवोंको नरक-यातना कष्ट नहीं पहुँचाती तो मैं सूखे काठकी तरह अचल होकर यहीं रहूँगा। जो शरणमें आनेकी इच्छा रखनेवाले आतुर एवं पीड़ित मनुष्यपर, भले ही वह शत्रुपक्षका ही क्यों न हो, कृपा नहीं करता, उसके जीवनको धिक्कार है। जिसका मन संकटमें पड़े हुए प्राणियोंकी रक्षा करनेमें नहीं लगता, उसके यज्ञ, दान और तप इस लोक और परलोकमें भी कल्याणके साधक नहीं होते। जिसका हृदय बालक, वृद्ध एवं आतुर प्राणियोंके प्रति कठोरता धारण करता है, मैं उसे मनुष्य नहीं मानता; वह तो निरा राक्षस है।' उसी समय राजा विपश्चित्के महान् पुण्यके प्रभावसे वहाँके सभी प्राणी नरक-यातनासे छूटकर अपने-अपने कर्मोंके अनुसार भिन्न-भिन्न उत्तम योनियोंमें चले गये और राजाको स्वयं भगवान् विष्णु विमानमें बिठाकर अपने दिव्यधाममें ले गये। इस आख्यानसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि

त्यागसे पुण्य अनन्तगुना बढ़ जाता है और दुःखी जीवोंपर दया करनेसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है।

पातिव्रत्यकी अलौकिक महिमा

इसके अनन्तर एक पतिव्रता ब्राह्मणीका चरित्र है, जो अपनें कोढ़ी एवं क्रोधी पतिको देवताके तुल्य मानकर पूजती और उसकी सब प्रकारसे सेवा करती थी। एक बार वह पतिपरायणा देवी पतिकी आज्ञासे उन्हें कंधेपर चढ़ाकर एक वेश्याके घर ले जा रही थी। रात्रिका समय था। मार्गमें एक सूली थी, जिसपर चोरीके संदेहपर एक निरपराध ब्राह्मणको चढ़ा दिया गया था। अँधेरेमें न दीखनेके कारण उस कोढ़ीने पैरोंसे छूकर सूलीको हिला दिया, जिससे ब्राह्मणको बड़ा कष्ट हुआ। उसने क्रोधमें भरकर शाप दिया कि जिसने सूलीको हिलाकर मुझे असीम कष्ट पहुँचाया है, उसे सूर्योदय होते ही प्राणोंसे हाथ धोना पड़ेगा। इसपर उस पतिव्रताने अपने पातिव्रत्यके बलसे सूर्यका उदय ही रोक दिया। इससे जगत्‌में बड़ा हाहाकार मच गया। स्नान, दान, अग्निहोत्र आदि सारी धार्मिक क्रियाएँ बंद हो गयीं। इसपर देवतालोग भयभीत होकर ब्रह्माजीके पास गये। ब्रह्माजीने उन्हें सती-शिरोमणि अत्रिपत्नी अनसूयाजीके पास भेजा और अनसूयाजी उन्हें आश्वासन देकर उस पतिव्रता ब्राह्मणीके पास गयीं। उन्होंने उसे समझाया कि 'देखो, बहिन ! सूर्योदय न होनेसे संसारका उच्छेद हो जायगा। इसलिये तुम देवताओंपर दया करके सूर्योदय होने दो, जिससे जगत्‌के सारे कार्य यथावत् होने लगें। रही तुम्हारे पतिकी बात, सो तुम विश्वास मानो—मैं उन्हें पुनर्जीवित कर नया एवं स्वस्थ शरीर प्रदान करूँगी।' ब्राह्मणीने अनसूयाजीकी बात मान ली और उसने सूर्योदयको रोकनेका संकल्प छोड़ दिया। फिर क्या था, पुनः सूर्योदय हुआ और सूर्योदय होते ही ब्राह्मणके प्राणपखेरू उड़ गये। देवी अनसूयाने उसी समय यह संकल्प किया कि ब्राह्मण रोगसे मुक्त हो फिरसे तरुण हो जाय और अपनी स्त्रीके साथ पुनः सौ वर्षोंतक जीवित रहे। बस, अनसूयाजीके इस

प्रकार संकल्प करते ही ब्राह्मण रोगमुक्त तरुण शरीरसे युक्त होकर पुनः जी उठा। देवतालोग सती-शिरोमणि अनसूयाजीकी जय-जयकार करने लगे और उनसे वर माँगनेको कहा। अनसूयाने यही वर माँगा कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश—तीनों महान् देवता उनके पुत्ररूपमें प्रकट हों। देवतालोग 'तथास्तु' कहकर अपने-अपने स्थानको चले गये। इस कथासे पता चलता है कि पतिव्रता स्त्री अपने पातिव्रत्यके बलसे क्या नहीं कर सकती। इसी वरदानके फलस्वरूप ब्रह्माजीके अंशसे चन्द्रमा, विष्णुके अंशसे भगवान् दत्तात्रेय और रुद्रके अंशसे महर्षि दुर्वासा—ये तीन पुत्र अनसूयाजीके हुए।

ऋतध्वज एवं मदालसाका चरित्र

इसके बाद भगवान् दत्तात्रेयके महान् प्रभावका वर्णन करते हुए अलर्कोपाख्यानकी अवतारणा की गयी है। इसी प्रसङ्गमें राजकुमार ऋतध्वज तथा उनकी पतिपरायणा पत्नी मदालसाके पवित्र चरित्रका वर्णन किया गया है। राजकुमार ऋतध्वज बड़े पितृभक्त थे। उन्हें पिताने यह आज्ञा दे रखी थी कि वे ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये पृथ्वीपर विचरते रहें और ऐसी चेष्टा करें कि जिससे दुराचारी दानव मुनियोंको कष्ट न पहुँचा सकें। पिताकी आज्ञा मानकर राजकुमार प्रतिदिन सारी पृथ्वीका चक्कर लगा आते थे। एक दिन जब वे बाहर गये हुए थे, उनके किसी शत्रुने उनके पिताको यह झूठा संवाद दे दिया कि राजकुमार तपस्वियोंकी रक्षा करते हुए किसी दुष्ट दैत्यके हाथों मारे गये। पतिप्राणा मदालसाने यह शोक-समाचार सुनते ही पति-वियोगमें तत्काल प्राण त्याग दिये। राजकुमार जब पृथ्वीकी परिक्रमा करके लौटे, तबतक मदालसाका दाह-संस्कार भी हो चुका था। उन्हें अपनी पत्नीकी मृत्युका समाचार सुनकर बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने उसी समयसे स्त्री-सम्भोगका त्याग कर दिया। धन्य है! पतिव्रता हो तो ऐसी, जो पतिके बिना क्षणभर भी शरीरको न रख सके और पति भी हो तो ऐसा, जो अपनी सहधर्मिणीका शरीरान्त हो जानेपर आजीवन स्त्री-सम्भोगसे दूर रहे। पातालनिवासी दो

नागकुमार ऋतध्वजके परम मित्र थे। वे नागराज अश्वतरके पुत्र थे। नागराजको अपने पुत्रोंद्वारा जब ऋतध्वजकी मानसिक व्यथाका समाचार मिला, तब वे अपने पुत्रोंके मित्रके दुःखसे बड़े दुःखी हुए। उन्होंने राजकुमारको मदालसाकी पुनः प्राप्ति करानेके उद्देश्यसे भगवान् शङ्करकी आराधना की। शङ्करने प्रसन्न होकर जब उन्हें वर माँगनेके लिये कहा, तब उन्होंने यही प्रार्थना की कि 'ऋतध्वजकी पत्नी मदालसा पहलेकी ही अवस्थामें मेरे यहाँ कन्यारूपमें जन्म ले, उसे पूर्वजन्मकी बातें याद रहें तथा पहले ही-जैसी उसकी कान्ति हो।' यही हुआ; नागराज जिस समय तर्पण कर रहे थे, उसी समय उनके मध्यम फणसे सुन्दरी मदालसा प्रकट हो गयी। उन्होंने उसे अन्तःपुरमें गुप्तरूपसे रख दिया और एक बार अपने मित्रोंके कहनेसे जब राजकुमार नागलोकमें उनके घर आये, तब नागराजने उस कन्याको राजकुमारके अर्पण कर दिया। ऋतध्वज अपनी खोयी पत्नीको पुनः पाकर बड़े प्रसन्न हुए और अपनी राजधानीको लौट आये। अपने अथवा अपने किसी सम्बन्धीके मित्रके हितसाधनमें मनुष्यको कैसा सचेष्ट होना चाहिये, इसकी हमें महानुभाव नागराजके पुनीत चरित्रसे शिक्षा मिलती है।

मदालसाके द्वारा पुत्रोंको अपूर्व शिक्षा

ऋतध्वजको मदालसाके गर्भसे कई पुत्र प्राप्त हुए। पहले तीन पुत्रोंको मदालसाने लोरी देते समय ही ऐसी ऊँची शिक्षा दी कि वे बाल्यकालमें ही ज्ञानसम्पन्न एवं ममताशून्य हो गये। धन्य है! माता हो तो ऐसी हो, जिसके गर्भमें आकर मनुष्यको फिर दूसरी माताका गर्भ न देखना पड़े। कहते हैं, संसारमें तीन ही माताएँ वास्तवमें माता कहलाने योग्य हुईं। पहली माता सुनीति थीं, जिन्होंने अपने पुत्र ध्रुवको भगवान्‌का मार्ग दिखाया। दूसरी माता सुमित्रा हुईं, जिन्होंने अपने पुत्र लक्ष्मणको भगवान्‌का अनुचर बनाकर उनकी सेवाके लिये सहर्ष वन भेज दिया।और तीसरी माता मदालसा हुईं, जिन्होंने

लोरीमें ही अपने बालकोंको ब्रह्मज्ञान करा दिया। अस्तु, मदालसाके चौथे पुत्रका नाम अलर्क था, जिसे उसने राजनीति, धर्मनीति एवं अध्यात्मका बड़ा ही सुन्दर उपदेश दिया। इसके बाद अलर्कको भगवान् दत्तात्रेयने अध्यात्म एवं योगका जो दिव्य उपदेश दिया, उसका विस्तारसे वर्णन है। अलर्ककी उस उपदेशसे आँखें खुल गयीं। वे घर छोड़कर वनमें चले गये और वहाँ उन्होंने योगकी अनुपम सम्पत्तिके द्वारा श्रेष्ठ निर्वाण-पदको प्राप्त किया।

तपस्वी ब्राह्मणका आदर्श चरित्र

इसके अनन्तर मार्कण्डेय एवं ब्राह्मणकुमार क्रौष्टुकिका महत्त्वपूर्ण संवाद है, जिसमें विविध उपयोगी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रसङ्गमें चौदह मनुओंकी उत्पत्तिका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। द्वितीय मनु स्वारोचिषकी उत्पत्तिके प्रसङ्गमें एक ब्राह्मणका बड़ा ही सुन्दर चरित्र चित्रित किया गया है। उन ब्राह्मणकी भूमण्डलमें भ्रमण करनेकी बड़ी इच्छा थी। एक बार एक ब्राह्मण अतिथि उनके यहाँ आये। वे पृथ्वीपर खूब घूम चुके थे। इन्होंने बताया कि वे मन्त्र और ओषधियोंके प्रभावसे आधे दिनमें एक हजार योजन (चार हजार कोस) चल लेते थे। ब्राह्मणने उनके इस प्रभावको जानना चाहा। इसपर उस आगन्तुकने उन्हें पैरमें लगानेके लिये एक लेप दिया और वे जिस दिशाको जाना चाहते थे, उसे मन्त्रसे अभिमन्त्रित किया। उस लेपको पैरोंमें लगाकर ब्राह्मणदेवता हिमालय पर्वतकी सैर करने निकल पड़े। उन्होंने सोचा था कि आधे दिनमें एक हजार योजन चलकर शेष आधे दिनमें घर लौट आयेंगे। वे हिमालयकी चोटीपर पहुँच तो गये; परंतु बर्फपर चलनेसे उनके पैरोंमें लगा हुआ दिव्य ओषधिका लेप धुल गया, जिसके कारण उनकी तीव्र गति कुण्ठित हो गयी। अब तो उन्हें चिन्ता हुई कि वे घर किस प्रकार पहुँचेंगे। चिन्ता उन्हें और किसी बातकी न होकर केवल इसी बातकी थी कि समयपर घर न पहुँच सकनेके कारण उनके अग्निहोत्र तथा नित्यकर्मकी हानि होगी। वास्तवमें देखा जाय तो धर्मकी हानि ही सबसे बड़ी हानि है, अर्थ

आदिकी हानि तो कोई महत्त्वकी हानि नहीं है। अतः वे किसी शक्ति-सम्पन्न महापुरुषकी खोजमें घूम रहे थे, जो उन्हें मन्त्रबलसे शीघ्र घर पहुँचा सकें।

तपस्वीकी अनुपम धर्मनिष्ठा तथा काम-विजय

इतनेमें ही उनपर एक अत्यन्त सुन्दरी अप्सराकी दृष्टि पड़ी। ब्राह्मण बड़े रूपवान् थे। अप्सरा उनके मनोहर रूपपर आसक्त हो गयी और उनके समीप जाकर उसने अपना अभिप्राय प्रकट किया। ब्राह्मणको तो घर पहुँचनेकी जल्दी लगी हुई थी, उन्हें और कोई बात सुहाती ही नहीं थी। वे अपने मनकी चञ्चलतापर खीझ रहे थे, जो उन्हें घरसे इतनी दूर उठा लायी थी। ज्यों-ज्यों ब्राह्मण उस सुन्दरीकी उपेक्षा करते थे, त्यों-ही-त्यों उसका उनपर अनुराग बढ़ता जाता था। आखिर ब्राह्मणने उसे बड़े जोरसे डाँटा और उससे अलग हो गये। उस समय उन्होंने जल्दी घर पहुँचनेका और कोई उपाय न देख गार्हपत्य अग्निका आवाहन किया और उनसे शीघ्र घर पहुँचा देनेके लिये प्रार्थना की। बस, उनके प्रार्थना करते ही गार्हपत्य अग्निने उनके शरीरमें प्रवेश किया। अग्निदेवके प्रवेश करनेपर वे ब्राह्मण तुरंत ही वहाँसे चल दिये और एक ही क्षणमें घर पहुँचकर उन्होंने शास्त्रोक्त विधिसे सब कर्मोंका अनुष्ठान पूरा किया। इस प्रकार उनकी धर्मनिष्ठाने ही उनके धर्मको बचाया। निष्ठा हो तो ऐसी हो।

गृहस्थाश्रममें गृहिणीका महत्त्व

दूसरे मनु औत्तमके चरित्रकी अवतारणा करते हुए उनके पिता उत्तमके चरित्रका वर्णन किया गया है। ये उत्तम राजा उत्तानपादके दूसरे पुत्र और महाभागवत ध्रुवके छोटे भाई थे। शत्रु और मित्रमें तथा अपने और परायेमें उनका समान भाव था। वे दुष्टोंके लिये यमराजके समान भयंकर और साधु पुरुषोंके लिये चन्द्रमाके समान शीतल एवं आनन्ददायक थे। उनका अपनी पत्नीमें बड़ा प्रेम था। वे सदा रानीके इच्छानुसार चलते थे, परंतु रानी कभी उनके अनुकूल नहीं होती थी। एक बार अन्यान्य राजाओंके सामने रानीने

उनकी आज्ञा माननेसे इनकार कर दिया। इससे उन्हें बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने द्वारपालसे कहकर रानीको निर्जन वनमें छुड़वा दिया। एक दिन एक ब्राह्मण उनके द्वारपर आया और पुकार करने लगा कि 'मेरी स्त्रीको रातमें कोई चुरा ले गया, अतः उसका पता लगाकर ला देनेकी कृपा करें।' राजाके पूछनेपर ब्राह्मणने यह भी बताया कि 'मेरी स्त्री बड़े ही क्रूर स्वभावकी और कुरूपा है तथा वह वाणी भी कटु बोलती है।' इसपर राजाने कहा—'ऐसी स्त्रीको लेकर क्या करोगे। मैं तुम्हें दूसरी भार्या ला देता हूँ।' इसपर ब्राह्मणने बताया कि 'पत्नीकी रक्षा करना पतिका धर्म है, उसकी रक्षा न करनेसे वर्णसंकरकी उत्पत्ति होती है और वर्णसंकर अपने पितरोंको स्वर्गसे नीचे गिरा देता है।' उसने यह भी कहा कि 'पत्नीके न रहनेसे मेरे नित्यकर्म छूट रहे हैं; इससे प्रतिदिन धर्ममें बाधा आती है, जिससे मेरा पतन अवश्यम्भावी है।'

पत्नीत्याग तथा नित्यकर्मके त्यागसे महान् हानि

ब्राह्मणके अधिक आग्रह करनेपर राजा उसकी स्त्रीकी खोजमें गये और इधर-उधर घूमने लगे। जाते-जाते एक वनमें उन्हें किसी तपस्वीका आश्रम दिखायी दिया। रथसे उतरकर वे आश्रममें गये। वहाँ उन्हें एक मुनिका दर्शन हुआ। मुनिने खड़े होकर राजाका स्वागत किया और शिष्यसे उनके लिये अर्घ्य ले आनेको कहा। शिष्यने धीरेसे पूछा—'महाराज! क्या इन्हें अर्घ्य देना उचित होगा? आप विचारकर जैसी आज्ञा देंगे, वैसा ही किया जायगा।' तब मुनिने ध्यानद्वारा राजाके वृत्तान्तको जानकर केवल आसन दे बातचीतके द्वारा उनका सत्कार किया। राजाने मुनिसे इस व्यवहारका कारण जानना चाहा। इसपर मुनिने उन्हें बताया कि 'मेरा शिष्य भी मेरी ही भाँति त्रिकालज्ञ है, उसने आपका वृत्तान्त जानकर मुझे सावधान कर दिया। बात यह है कि आपने अपनी विवाहिता पत्नीका त्याग कर दिया है और इसके साथ ही आप अपना धर्म-कर्म भी छोड़ बैठे हैं। एक पखवाड़ेतक भी नित्यकर्म छोड़ देनेसे मनुष्य अस्पृश्य हो जाता है, आपने तो उसे एक वर्षसे छोड़ रखा है। नरेश्वर! पतिका

स्वभाव कैसा ही हो, पत्नीको उचित है कि वह सदा पतिके अनुकूल रहे। इसी प्रकार पतिका भी कर्तव्य है कि वह दुष्ट स्वभावकी पत्नीका भी पालन-पोषण करे ब्राह्मणकी वह पत्नी, जिसका अपहरण हुआ है, सदा अपने पतिके प्रतिकूल चलती थी; तथापि धर्मपालनकी इच्छासे वह आपके पास गया और उसे खोजकर ला देनेके लिये उसने आपसे बार-बार आग्रह किया। आप तो धर्मसे विचलित हुए दूसरे-दूसरे लोगोंको धर्ममें लगाते हैं; फिर जब आप स्वयं ही विचलित होंगे, तब आपको धर्ममें कौन लगायेगा।' मुनिकी फटकार सुनकर राजा बड़े लज्जित हुए, उन्होंने अपनी गलती स्वीकार की। इसके बाद मुनिसे खोयी हुयी ब्राह्मण पत्नीका हाल जानकर राजा उसकी खोजमें गये और जहाँ वह थी, वहाँसे उसे अपने पतिके पास पहुँचवा दिया। ब्राह्मण अपनी पत्नीको पाकर बड़े प्रसन्न हुए।

ग्रहोंका जीवनपर प्रभाव

इसके बाद वे अपनी रानीका पता लगानेके लिये पुनः उन महर्षिके पास आये। महर्षिने उन्हें अवसर देखकर फिर कहा—'राजन्! मनुष्योंके लिये पत्नी धर्म, अर्थ एवं कामकी सिद्धिका कारण है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—कोई भी क्यों न हो, पत्नीके न रहनेपर वह कर्मानुष्ठानके योग्य नहीं रह जाता। जैसे स्त्रीके लिये पतिका त्याग अनुचित है, उसी प्रकार पुरुषोंके लिये स्त्रीका त्याग भी उचित नहीं है।' मुनिने उन्हें यह भी बताया कि पाणिग्रहणके समय राजापर सूर्य, मङ्गल और शनैश्चरकी तथा उनकी पत्नीपर शुक्र और बृहस्पतिकी दृष्टि थी। उस मुहूर्तमें रानीपर चन्द्रमा और बुध भी, जो परस्पर शत्रुभाव रखनेवाले हैं, अनुकूल थे और राजापर उन दोनोंकी वक्रदृष्टि थी। यही कारण था कि रानी राजासे सदा प्रतिकूल रहती थी। इसपर राजाने रानीकी अनुकूलता प्राप्त करनेके लिये मित्रविन्दा नामक यज्ञका अनुष्ठान कराया। जिन स्त्री-पुरुषोंमें परस्पर प्रेम न हो, उनमें मित्रविन्दा प्रेम उत्पन्न करती है। इसके बाद राजाने रानीको एक राक्षसकी सहायतासे पाताललोकसे बुलवाया और

दोनोंमें परस्पर बड़ा प्रेम हो गया।

पति-पत्नीमें सम्बन्ध-विच्छेद हिंदू-धर्मको स्वीकार नहीं

यह इतिहास बड़ा ही शिक्षाप्रद है। इससे हमें अनेक प्रकार की शिक्षाएँ मिलती हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण शिक्षा तो इससे यह मिलती है कि हिंदू-धर्म पतिके द्वारा पत्नीके अथवा पत्नीके द्वारा पतिके त्यागकी आज्ञा नहीं देता। किसी भी अवस्थामें पति-पत्नीका सम्बन्ध-विच्छेद हिंदू-धर्मको मान्य नहीं है। हमारे सुधारक भाइयोंको, जो पाश्चात्त्य शिक्षा दीक्षामें दीक्षित होकर कानूनद्वारा पति-पत्नीके सम्बन्ध-विच्छेदको वैध बना देना चाहते हैं, समझ लेना चाहिये कि उनकी चेष्टा सर्वथा धर्मके प्रतिकूल है और व्यभिचार एवं स्वेच्छाचारको प्रोत्साहन देनेवाली है, जो बड़े भारी पतनके हेतु हैं। हिंदू भाइयोंको इस प्रकारके अधार्मिक बिलोंका घोर विरोध करना चाहिये और किसी प्रकार भी उन्हें पास नहीं होने देना चाहिये। राजाओंको इससे यह शिक्षा मिलती है कि प्रजाको धर्ममें लगाने और अधर्मसे रोकनेकी जिम्मेवारी राजापर होती है; यदि राजा भी अपना धर्म छोड़ दें तो फिर प्रजा धर्ममें स्थित कैसे रह सकती है। राजाओंका भी नियन्त्रण तपस्वी, धर्मनिष्ठ, अकिञ्चन एवं सत्यवादी ब्राह्मणलोग करते थे, जो सर्वथा निःस्पृह, निष्पक्ष एवं निर्भय होते थे और धर्मसे विचलित होनेपर राजाओंको साहसपूर्वक डाँट देते थे। तीसरी शिक्षा यह मिलती है कि संध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव, देव-पूजन आदि कर्म द्विजातिमात्रके लिये अनिवार्य हैं और इन्हें एक पखवाड़ेतक त्याग देनेपर भी मनुष्य पतित हो जाता है—अस्पृश्य हो जाता है। जबसे हमलोगोंने नित्यकर्म छोड़ दिया, तभीसे समाजमें पापका प्रवेश हो गया और फलतः हमलोग दीनता-दरिद्रता, परतन्त्रताके शिकार बन गये और नाना प्रकारके शत्रुओंसे हमारा पराभव होने लगा। चौथी शिक्षा इस आख्यानसे यह मिलती है कि ग्रहोंका हमारे जीवन एवं दाम्पत्य-सुखके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और विवाहादि सम्बन्ध करते समय तथा पाणिग्रहण आदिके समय ग्रहोंका विचार

परमावश्यक है। ग्रहोंकी स्थिति अनुकूल न होनेपर दाम्पत्य सुखमें बाधा पहुँच सकती है।

दुर्गासप्तशतीकी लोकप्रियता

इसके अनन्तर आठवें मनु सावर्णिकी उत्पत्तिके प्रसङ्गमें देवी-माहात्म्यका वर्णन है, जो दुर्गासप्तशती अथवा चण्डीके नामसे प्रसिद्ध है। जिस प्रकार विषादग्रस्त एवं बन्धुजनोंके मोहमें पड़कर युद्धसे विरत हुए अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने गीताका उपदेश देकर कृतार्थ किया, उसी प्रकार खोये हुए राज्य एवं परिवारकी चिन्तामें डूबे हुए राजा सुरथ तथा स्त्री-पुत्रोंद्वारा अपमानित एवं घरसे निकाले हुए, किंतु फिर भी उनकी ममतासे जर्जरित एवं शोकमग्न समाधि वैश्यको विप्रवर मेधा मुनिने देवी-माहात्म्य सुनाकर उनका शोक एवं मोह दूर किया। दुर्गासप्तशतीका हमारे यहाँ बहुत प्रचार है और वर्षभरमें दो बार—चैत्र एवं आश्विनके नवरात्रोंमें तो, जिनमें देवी-पूजा विशेष रूपसे होती है, इसका पाठ प्रायः किया जाता है। यहाँ उसमें आये हुए अमूल्य उपदेशोंका दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है।

महामायाका स्वरूप

मेधा ऋषिने बताया कि संसारकी स्थिति (जन्म-मरणकी परम्परा) बनाये रखनेके लिये भगवती महामायाके प्रभावद्वारा जीव ममतामय भँवरसे युक्त मोहके गहरे गर्तमें गिराये जाते हैं। जगदीश्वर भगवान् विष्णुकी योगनिद्रारूपा जो भगवती महामाया हैं, उन्हींसे यह जगत् मोहित हो रहा है। वे भगवती विवेकियोंके भी चित्तको बलपूर्वक खींचकर मोहमें डाल देती हैं। वे ही इस सम्पूर्ण चराचर जगत्की सृष्टि करती हैं तथा वे ही प्रसन्न होनेपर मनुष्योंको मुक्तिका वरदान देती हैं। वे ही परा विद्या, संसार-बन्धन और मोक्षकी हेतुभूता सनातनी देवी तथा सम्पूर्ण ईश्वरोंकी भी अधीश्वरी हैं। ऋषिने यह भी बताया कि वास्तवमें तो वे देवी नित्यस्वरूपा ही हैं, क्योंकि भगवान्की शक्ति भगवान्से सर्वथा अभिन्न है। सम्पूर्ण जगत् मायासे उत्पन्न होनेके कारण

उन्हींका स्वरूप है तथा उन्हींने समस्त विश्वको व्याप्त कर रखा है; तथापि भगवान्‌की भाँति जब वे देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये समय-समयपर प्रकट होती हैं, तब वे उत्पन्न हुई कहलाती हैं। इसके अनन्तर ऋषिने उन्हीं देवीके प्राकट्यके तीन चरित्र सुनाये, जो क्रमशः प्रथम चरित्र, मध्यम चरित्र और उत्तर चरित्रके नामसे प्रसिद्ध हैं।

दुर्गासप्तशतीके श्रवणका अपूर्व प्रभाव

मेधा ऋषिके द्वारा उपदिष्ट देवीमाहात्म्य तथा देवीचरित्रोंको सुनकर राजा सुरथ एवं समाधि वैश्यका मोह दूर हो गया। वे दोनों विरक्त होकर तत्काल तपस्याके लिये निकल पड़े और जगदम्बाके दर्शनके लिये नदीके तटपर रहकर तपस्या करने लगे। वे देवीकी मृण्मयी मूर्ति बनाकर पुष्प, धूप और हवनके द्वारा उनकी आराधना करने लगे। उन्होंने पहले तो आहारको धीरे-धीरे कम किया, फिर बिलकुल निराहार रहकर देवीमें ही मन लगाये एकाग्रतापूर्वक उनका चिन्तन आरम्भ किया; इस प्रकार लगातार तीन वर्षोंतक वे दोनों संयमपूर्वक देवीकी आराधना करते रहे। इसपर प्रसन्न होकर जगद्धात्री चण्डिका देवीने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया और मनोवाञ्छित वर माँगनेको कहा। राजाने दूसरे जन्ममें नष्ट न होनेवाला राज्य और उसी जन्ममें पुनः राज्य-प्राप्तिका वर माँगा; किन्तु समाधि वैश्यका मन तो सर्वथा भोगोंसे फिर गया था, उन्हें संसारसे वैराग्य हो चुका था; अतः उन्होंने अहंता और ममतारूप दोषोंका नाश करनेवाला ज्ञान माँगा। देवी भगवती 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गयीं। वही सुरथ राजा अगले मन्वन्तरमें सावर्णि नामके मनु होंगे। इस प्रकार भगवती महामाया भोग चाहनेवालोंको भोग और मोक्षार्थियोंको मोक्ष प्रदान करती हैं।

गृहस्थधर्मकी महिमा

इसके अनन्तर रौच्य नामक तेरहवें मनुके उत्पत्ति-प्रसङ्गमें गृहस्थधर्मकी

बड़ी महिमा कही गयी है। रौच्य मनु प्रजापति रुचिके पुत्र थे। प्रजापति रुचि ममता और अहंकारसे रहित होकर इस पृथ्वीपर निर्भय विचरते थे। उन्होंने न तो अग्निकी स्थापना की थी और न अपने लिये घर ही बनाया था। वे एक बार भोजन करते और बिना आश्रमके ही रहते थे। उन्हें इस प्रकार मुनिवृत्तिसे रहते देख उनके पितरोंने गृहस्थधर्म एवं कर्ममार्गकी महिमा बताते हुए उनसे यह कहा कि 'बेटा! यद्यपि वेदमें कर्मको अविद्या कहा गया है, फिर भी इतना तो निश्चित है कि ज्ञानरूपा विद्याकी प्राप्तिमें भी कर्म ही कारण है। दयाभावसे प्रेरित होकर जो कर्म किया जाता है, वह बन्धनकारक नहीं होता तथा फल-कामनासे रहित कर्म भी बन्धनमें नहीं डालता; इसके विपरीत विहित कर्मका त्याग करके जो अधम मनुष्य संयम करते हैं, उस संयमसे उन्हें मोक्षकी प्राप्ति होनी तो दूर रही, उलटी उनकी अधोगति होती है। वत्स! तुम तो समझते हो कि तुम इन्द्रियजयके द्वारा आत्माका प्रक्षालन कर रहे हो; परंतु वास्तवमें तुम शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करनेके कारण पापोंसे दग्ध हो रहे हो। कर्म अविद्या होनेपर भी विधिपूर्वक आचरण करनेसे शोधे हुए विषकी भाँति मनुष्योंका उपकार ही करता है। इसके विपरीत विद्या भी विधिकी अवहेलनासे निश्चय ही हमारे बन्धनका कारण बन जाती है। अतः वत्स! तुम विधिपूर्वक स्त्री-संग्रह—विवाह करो।' रुचिने पितरोंकी बात मान ली और स्त्री-प्राप्तिकी अभिलाषासे ब्रह्माजीके आदेशानुसार पितरोंका पूजन किया। उनके आशीर्वादसे उन्हें एक अप्सराकी कन्या पत्नीरूपमें प्राप्त हुई और उसीसे रौच्यकी उत्पत्ति हुई। इसी प्रसङ्गमें मन्वन्तरोंकी कथा सुननेका भी बड़ा माहात्म्य कहा गया है।

राजा खनित्रकी अनोखी भावना

इसके अनन्तर भगवान् सूर्यकी उत्पत्ति तथा उनके वंशज नरपालोंके चरित्रका वर्णन है। सूर्यवंशके नरपतियोंमें राजा खनित्रका चरित्र बड़ा ही उदात्त है। खनित्र बड़े ही शान्त, सत्यवादी, शूरवीर, समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर

रहनेवाले, स्वधर्मपरायण, वृद्धसेवी, अनेक शास्त्रोंके विद्वान्, वक्ता, विनयशील, अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता, डींग न हाँकनेवाले और सब लोगोंके प्रिय थे। वे दिन-रात यही कामना किया करते थे—'समस्त प्राणी प्रसन्न रहें तथा दूसरोंपर भी स्नेह रखें। सब जीवोंका कल्याण हो। सभी निर्भय हों। किसी भी प्राणीको कोई व्याधि एवं मानसिक व्यथा न हो। समस्त प्राणी सबके प्रति मित्रभावके पोषक हों। ब्राह्मणोंका कल्याण हो। सबमें परस्पर प्रेम हो। सब वर्णोंकी उन्नति हो। उन्हें समस्त कर्मोंमें सिद्धि प्राप्त हो। लोगो ! सब जीवोंके प्रति तुम्हारी बुद्धि कल्याणमयी हो। तुमलोग जिस प्रकार अपना तथा अपने पुत्रोंका सर्वदा हित चाहते हो, उसी प्रकार सब प्राणियोंके प्रति हित-बुद्धि रखते हुए बर्ताव करो। यह तुम्हारे लिये अत्यन्त हितकी बात है। कौन किसका अपराध करता है। यदि कोई मूढ़ किसीका थोड़ा भी अहित करता है तो उसे निश्चय ही उसका फल भोगना पड़ेगा; क्योंकि फल सदा कर्ताको ही मिला करता है। लोगो ! यह विचारकर सबके प्रति पवित्र भाव रखो। इससे इस लोकमें पाप नहीं बनेगा और मरनेपर तुम्हें उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होगी। बुद्धिमानो ! मैं तो यह चाहता हूँ कि मुझसे जो स्नेह रखता है, उसका इस पृथ्वीपर सदा ही कल्याण हो तथा जो इस लोकमें मेरे साथ द्वेष रखता है, वह भी कल्याणका ही भागी बने।' अहा ! कैसी उदात्त भावना है। आज जगत् यदि महाराज खनित्रकी शिक्षा मानने लगे तो संसारसे कलह एवं अशान्तिका बीज ही नष्ट हो जाय और यह भूमण्डल नन्दन-कानन बन जाय।

खनित्रकी अलौकिक उदाराशयता

राजा खनित्रने अपने भाइयोंको प्रेमपूर्वक पृथक्-पृथक् राज्योंमें अभिषिक्त कर दिया और स्वयं समुद्रवसना पृथ्वीका उपभोग करने लगे। महाराज खनित्र उन चारों भाइयों तथा समस्त प्रजापर सदा पुत्रोंकी भाँति स्नेह रखते थे। एक बार उनके एक भाईके पुरोहितने उसे उलटी पट्टी पढ़ाकर सम्राट्का विद्रोही बना दिया और क्रमशः उनके अन्य भाइयों तथा उनके

पुरोहितोंको भी फोड़ लिया। फिर तो वे चारों पुरोहित महाराज खनित्रके विरुद्ध भयंकर पुरश्चरण करने लगे। उनके उस आभिचारिक कर्मसे चार कृत्याएँ उत्पन्न हुईं। वे सभी राजा खनित्रके पास आयीं। किंतु राजा साधु पुरुष थे; अतः उनके पुण्यसमूहसे वे परास्त हो गयीं और लौटकर उन दुष्टात्मा पुरोहितोंपर ही टूट पड़ीं तथा उन्हें जलाकर भस्म कर डाला। खनित्रको जब इस बातका पता लगा, तब उन्हें अपने बच जानेका हर्ष न होकर उन ब्राह्मणोंकी मृत्युपर दुःख हुआ। वे कहने लगे—'मुझ पापी, भाग्यहीन तथा दुष्टको धिक्कार है, जिसके कारण चार ब्राह्मणोंकी हत्या हुई। मेरे राज्यको धिक्कार तथा महान् राजाओंके कुलमें जन्म लेनेको भी धिक्कार है, क्योंकि मैं ब्राह्मणोंके विनाशका कारण बना। वे पुरोहित तो अपने स्वामी मेरे भाइयोंका कार्य कर रहे थे। अतः दुष्ट वे नहीं हैं, दुष्ट तो मैं हूँ; क्योंकि मैं ही उनके नाशका कारण बना हूँ।' ऐसा विचार करके महाराज खनित्र अपने पुत्रको राज्यपर अभिषिक्त करके अपनी पत्नियोंके साथ तपस्याके लिये वनमें चले गये। धन्य राजा खनित्र! ऐसा राजा संसारमें कौन होगा, जो मारनेवालोंकी मृत्युपर साम्राज्य-सुखका त्याग कर दे और दूसरोंके दोषोंको गुणरूपमें ग्रहण करे। भारत देश, सनातनधर्म और हिंदूजातिको ही ऐसे नररत्न उत्पन्न करनेका सौभाग्य प्राप्त है।

राजा मरुत्तका चरित्र

राजा खनित्रके पुत्र क्षुप हुए। वे बड़े दानशील तथा अनेक यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले थे। वे व्यवहार आदिमें शत्रु और मित्रके प्रति समान भाव रखते थे। क्षुपके पुत्र विविंश हुए और विविंशके खनीनेत्र। इन्होंने महात्मा ब्राह्मणोंको समूची पृथ्वीका दान देकर तपस्यासे द्रव्य-संग्रह किया और उसके द्वारा पृथ्वीको छुड़ाया। इन्होंने सरसठ हजार सरसठ सौ सरसठ यज्ञ किये थे। और सबमें प्रचुर दक्षिणा दी थी। खनीनेत्रके पुत्र करन्धम, करन्धमके अवीक्षित और अवीक्षितके सम्राट् मरुत्त हुए। अवीक्षितके राज्य स्वीकार न

करनेके कारण करन्धमके बाद मरुत्त ही राजसिंहासनपर बैठे। जिस प्रकार पिता अपने औरस पुत्रोंकी रक्षा करता है, मरुत्त उसी प्रकार प्रजाजनोंका धर्मपूर्वक पालन करते थे। उनका शासन-चक्र सातों द्वीपोंमें अबाधरूपसे फैला हुआ था। आकाश, पाताल और जल आदिमें भी उनकी गति कुण्ठित नहीं होती थी। राजा स्वयं तो यज्ञ करते ही थे, चारों वर्णोंके अन्य लोग भी अपने-अपने कर्ममें आलस्य छोड़कर संलग्न रहते और महाराजसे धन प्राप्तकर इष्टापूर्त आदि पुण्यक्रियाएँ करते थे। राजा मरुत्तने सौ यज्ञ करके देवराज इन्द्रको भी मात कर दिया था। इनके यज्ञोंमें इन्द्रादि श्रेष्ठ देवता ब्राह्मणोंको भोजन परोसनेका काम किया करते थे। इन्होंने ब्राह्मणोंको यज्ञोंमें इतनी प्रचुर दक्षिणा दी थी कि उनके घर रत्नोंसे भर गये थे।

राजा मरुत्त तथा उनके पिताका धर्मके लिये परस्पर युद्ध

एक बार और्व मुनिके आश्रममें पाताललोकके नागोंने आकर दस मुनिकुमारोंको डस लिया। यद्यपि महर्षिलोग इन सबको अपने ब्रह्मतेजसे भस्म कर डालनेकी शक्ति रखते थे, फिर भी दण्ड देनेका अपना अधिकार न समझ वे चुप रहे। इधर जब मरुत्तको इस बातका पता लगा, तब वे तुरंत ऋषिके आश्रमपर पहुँचे और उन्होंने कुपित हो पाताललोकनिवासी सम्पूर्ण नागोंका संहार करनेके लिये संवर्तक नामक अस्त्र उठाया। उस महान् अस्त्रके तेजसे सारा नागलोक सहसा जल उठा। अब तो सर्पोंमें बड़ा हाहाकार मचा। उनमेंसे कुछ अपने स्त्री-पुत्रोंको साथ ले मरुत्तकी माता भामिनी और पिता अवीक्षितके शरणमें गये। उन्हें रक्षाका आश्वासन देकर वीर अवीक्षित अपने पुत्रके पास पहुँचे और उन्हें अस्त्र लौटा लेनेके लिये कहा; परन्तु मरुत्तने उनकी बात नहीं सुनी। उन्होंने कहा कि 'नागोंने मुनिकुमारोंको डसा है, हविष्योंको भी दूषित किया है तथा आश्रमके सम्पूर्ण जलाशयोंको विषैला कर दिया है। अतः ये आततायी हैं, इनका वध करनेमें कोई दोष नहीं है; बल्कि इन्हें दण्ड देना मेरा कर्तव्य है। अतः आप मेरे कर्तव्य-पालनमें बाधा न डालें।' इधर

अवीक्षितने कहा कि 'इन सबको मैं अभय-दान दे चुका हूँ, अतः इनकी रक्षा करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। यदि तुम नहीं मानते तो लो मैं अस्त्रके द्वारा ही तुम्हारे अस्त्रका प्रतीकार करता हूँ।' यों कहकर उन्होंने अपने धनुषपर कालास्त्रका संधान किया। इस प्रकार पिता-पुत्रमें युद्ध छिड़ गया। दोनों ही अपनी-अपनी बातपर दृढ़ थे। एकने प्रजाजनोंकी रक्षाके लिये दुष्टोंके वधका प्रण ले रखा था और दूसरा अपनी शरणमें आये हुए सर्पोंको रक्षाका वचन दे चुका था। दोनोंकी धर्मनिष्ठा आदर्श थी। पुत्रने अपने प्रजा-पालनरूप व्रतमें बाधा डालनेवाले पिताकी भी परवा नहीं की और पिताने अपने शरणागत-रक्षाके व्रतमें बाधक बने हुए प्राणोपम पुत्रपर भी शस्त्र उठा लिया। धर्मके लिये पिता-पुत्रके बीच यह संग्राम जगत्‌के इतिहासमें अनोखा था। दोनोंको एक-दूसरेका वध करनेके लिये दृढ़संकल्प देख भार्गव आदि मुनि बीचमें पड़ गये और उन्होंने दोनोंको शान्त किया। उन्होंने कहा कि 'नागलोग डसे हुए मुनिकुमारोंको जिला देनेके लिये कह रहे हैं; ऐसा होनेसे मरुत्तके द्वारा प्रजापालन सहज ही हो जायगा और मुनिकुमारोंकी रक्षा हो जानेपर सर्पोंको मारनेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी।' पिता-पुत्र इस बातपर राजी हो गये और सर्पोंने अपना विष खींचकर दिव्य ओषधियोंके प्रयोगसे मुनिकुमारोंको जिला दिया।

राजा नरिष्यन्तका अपूर्व यज्ञ-प्रेम

मरुत्तके पुत्र नरिष्यन्त हुए। नरिष्यन्तने इतने अधिक यज्ञ किये और ब्राह्मणोंको दक्षिणाके रूपमें इतना प्रचुर धन दिया कि उस धनसे वे स्वयं यज्ञ करने लगे। और इतने सम्पन्न हो गये कि फिर उन्हें जीवन-यात्राके लिये दूसरोंके यहाँ यज्ञ करानेकी आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई। यहाँतक कि राजाको अब आवश्यकता होनेपर यज्ञ करानेके लिये ऋत्विज ही नहीं मिलते थे, क्योंकि ऋत्विजोंको अब अपने यज्ञोंसे ही फुरसत नहीं मिलती थी। राजा और प्रजाने मिलकर उनके राज्यमें करोड़ों यज्ञ किये।

नरिष्यन्तके पुत्र दम हुए। वे दुष्ट शत्रुओंका दमन करनेवाले थे। उनमें इन्द्रके समान बल था और साथ-ही-साथ मुनियों-जैसी दया और शील था। उस महायशस्वी पुत्रने नौ वर्षोंतक माताके उदरमें रहकर उसके द्वारा दमका पालन कराया था तथा वह स्वयं भी दमनशील था। इसीलिये त्रिकालवेत्ता पुरोहितने उसका नाम 'दम' रखा था। राजकुमार दमने दैत्यराज वृषपर्वासे सम्पूर्ण धनुर्वेदकी शिक्षा पायी, तपोवननिवासी दैत्यराज दुन्दुभिसे सम्पूर्ण अस्त्र प्राप्त किये, महर्षि शक्तिसे वेदों तथा समस्त वेदाङ्गोंका अध्ययन किया और राजर्षि आर्ष्टिषेणसे योगविद्या प्राप्त की। इस प्रकार वे राजोचित सभी गुणोंसे अलङ्कृत थे। ऐसे राजाओंके राज्यमें ही प्रजा सुखी रह सकती है। जिन दिनों भारतमें ऐसे प्रतापी, धर्मात्मा, बलवान् और शास्त्रज्ञ नृपति होते थे, उन्हीं दिनों भारतका मस्तक, जगत्के सामने ऊँचा था और दुष्ट लोगोंकी नहीं चलती थी। जबसे भारतका क्षात्रबल क्षीण होने लगा और राजाओंमें नाना प्रकारके दोष आने लगे, तभीसे उसके खोटे दिन आ गये और वह सब प्रकारके दुःखों एवं उपद्रवोंका केन्द्र बन गया। राजा नरिष्यन्त जब वृद्ध हो गये, तब वे दमको राजपदपर अभिषिक्त करके स्वयं वनमें चले गये और अपनी पत्नीके साथ वानप्रस्थधर्मका पालन करने लगे। उन दिनों राजाओंमें प्रायः ऐसी चाल ही थी।

राजा दमको उनकी माताका कर्तव्य-पालनके लिये उपदेश

एक दिन दक्षिण देशका दुराचारी राजकुमार वपुष्मान्, जो एक बार दमसे युद्धमें हार गया था, शिकार खेलता हुआ उसी आश्रममें जा पहुँचा, जहाँ वृद्ध राजा नरिष्यन्त अपनी पत्नी इन्द्रसेनाके साथ रहकर तपस्या करते थे। उसे जब नरिष्यन्तका परिचय मालूम हुआ, तब उसके मनमें सहसा अपने शत्रु दमसे बदला लेनेकी भावना जाग्रत् हो उठी। अवसर देखकर उसने नरिष्यन्तकी जटा पकड़ ली और नृशंसतापूर्वक इन्द्रसेनाके सामने ही तलवारसे उन वृद्ध राजर्षिका सिर काट लिया। इन्द्रसेनाने एक तपस्वीके हाथ दमको इसकी

सूचना करवा दी और बड़े ही जोशीले शब्दोंमें उन्हें अपने तपस्वी पिताका वध करनेवाले उस दुष्ट क्षत्रियाधमको दण्ड देनेके लिये प्रेरित किया। इन्द्रसेनाके शब्द बड़े ही मार्मिक थे। उन्होंने कहला भेजा—'बेटा दम ! राजा होनेका अधिकार उसीको है, जो चारों वर्णों एवं आश्रमोंकी रक्षा करे। तुम जो तपस्वियोंकी रक्षा नहीं करते, यह क्या तुम्हारे लिये उचित है ? तुम्हारे पिताका बिना किसी अपराधके तुम्हारे ही राज्यमें एक आततायी चुपचाप उनके आश्रममें आकर वध कर दे और तुम्हें इस बातका पता भी न चले—यह तुम्हारे लिये कितनी लज्जाकी बात है ! ऐसी स्थितिमें तुम्हें वही कार्य करना चाहिये, जिससे तुम्हारे धर्मका लोप न हो। इससे आगे मुझे कुछ नहीं कहना है, क्योंकि मैं तपस्विनी हूँ। तुम्हारे मन्त्री बड़े वीर तथा सब शास्त्रोंके ज्ञाता हैं। उन सबके साथ विचार करके तुम्हारे लिये इस समय जो उचित हो, वही तुम्हें करना चाहिये। अपने पिता शक्तिको राक्षसके हाथसे मारा गया सुनकर महर्षि पराशरने समस्त राक्षस-कुलको अग्निकुण्डमें होमकर भस्म कर दिया था। मैं तो ऐसा मानती हूँ कि तुम्हारे पिता नहीं, तुम ही मारे गये हो; वपुष्मान्की तलवार उनपर नहीं गिरी, तुम्हारे ही ऊपर गिरी है। उसने तुम्हारे निरीह पिताको मारकर तुम्हारे ही शासनका उल्लङ्घन किया है, तुम्हारी ही मर्यादाका लोप किया है। अब तुम्हें भृत्य, कुटुम्ब एवं बन्धु-बान्धवोंसहित वपुष्मान्के प्रति जो बर्ताव करना उचित हो, वही करो।' यों कहलाकर इन्द्रसेना अपने पतिके साथ ही अग्निमें प्रवेश कर गयी।

मर्यादा-रक्षाके लिये क्षात्रधर्मकी आवश्यकता

भारतकी वीर क्षत्राणियाँ प्राचीन कालमें अपनी सन्तानोंको इसी प्रकार धर्मयुद्धके लिये प्रेरित किया करती थीं। माता विदुलाने अपने पुत्र संजयको तथा कुन्तीदेवीने पाण्डवोंको इसी प्रकार उनके क्षत्रियोचित कर्तव्यका पालन करनेके लिये प्रेरणा की थी। जबसे भारतकी वीर रमणियोंने अपने पुत्रोंको इस प्रकार धर्मका उपदेश देना छोड़ दिया, तभीसे भारत तेजोहीन हो गया और

उसमें अपने तथा अपनी संतानोंपर किये गये अत्याचारोंका बदला लेनेकी शक्ति नहीं रही। एक जानकीको राक्षसोंके चंगुलसे छुड़ानेके लिये मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामने समस्त राक्षसकुलका संहार कर डाला तथा एक द्रौपदीके अपमानका बदला लेनेके लिये पाण्डवोंने कौरव-वंशका उच्छेद कर दिया। परन्तु आज हमारी आँखोंके सामने न जाने कितनी अबलाओंपर दुष्टोंद्वारा अत्याचार एवं बलात्कार किये जाते हैं, न जाने हमारी कितनी माता-बहिनें आज विधर्मियोंके चंगुलमें पड़ी हुई अपने भाग्यको कोस रही हैं, न जाने कितने वृद्ध एवं बालकोंके निर्दयतापूर्वक काटे जानेकी बातें हम सुनते हैं; परन्तु हमारे कानोंपर जूँ भी नहीं रेंगती, हमारे खूनमें जरा भी गरमाहट नहीं आती, मानो कुछ हुआ ही नहीं !

दमका अपने पिताके मारनेवालेको दण्ड देना

जिन दिनोंकी यह बात है, उन दिनों भारतके क्षत्रियोंकी धमनियोंका खून गरम था। वे अपने कर्तव्यसे च्युत एवं नपुंसक नहीं हो गये थे। अत्याचार एवं अपमानका बदला लेनेकी उनमें शक्ति थी। राजा दमने जब यह दुःखपूर्ण संवाद सुना, तब उनका हृदय क्रोधसे जल उठा। जैसे घी डालते ही आग प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार दम क्रोधाग्निसे जलते हुए हाथ-से-हाथ मलने लगे और इस प्रकार बोले—'ओह ! मुझ पुत्रके जीते-जी उस आततायीने मेरे पिताको अनाथकी भाँति मार डाला और इस प्रकार मेरे कुलका अपमान तथा मेरे शासनकी अवहेलना की। यदि मैं बैठकर उस घटनापर शोक मनाऊँ और चुप हो रहूँ अथवा उदारतापूर्वक क्षमा कर दूँ तो यह मेरी नपुंसकता होगी। दुष्टोंका दमन और साधु-पुरुषोंकी रक्षा—यही मेरा कर्तव्य है। मेरे पिताको मारकर भी यदि मेरा शत्रु जीवित है तो अब केवल 'हा तात !' कहकर विलाप करनेसे क्या होगा। इस समय जो करना आवश्यक है, वही मैं करूँगा। उस कायर, पापी एवं दुष्ट क्षत्रियाधमको अपनी करनीका फल अच्छी तरह चखाऊँगा, जिससे फिर किसी दुष्टकी इस

प्रकार अन्याय करनेकी हिम्मत न हो। यदि उसे न मार सका तो स्वयं ही अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा। यदि देवराज इन्द्र स्वयं वज्र हाथमें लिये युद्धमें पधारें, भयङ्कर दण्ड लिये साक्षात् यमराज भी कुपित होकर सामने आ जायँ, कुबेर, वरुण और सूर्य भी वपुष्मान्‌की रक्षाका यत्न करें, तो भी मैं उस नराधमको जीवित नहीं छोड़ूँगा। जो नियतात्मा, निर्दोष, वनवासी, अपने-आप वृक्षसे गिरे हुए फलोंका आहार करनेवाले तथा सब प्राणियोंके मित्र थे—ऐसे मेरे पिताकी मुझ-जैसे शक्तिशाली पुत्रके रहते हुए जिसने निर्दयतापूर्ण हिंसा की है, उसके मांस और रक्तसे आज गृध्र तृप्त हों।'

राजा दम यों कहकर चुप नहीं हो गये। उन्होंने जो कुछ कहा, उसे पूरा करके ही दम लिया। उन्होंने बड़ी भारी सेना लेकर दक्षिण देशपर चढ़ाई कर दी और वपुष्मान्‌को उसकी सेनासहित मारकर वे पुनः अपनी राजधानीको लौट आये।

इस प्रकार सूर्यवंशमें अनेक शूरवीर, विद्वान्, धर्मज्ञ एवं पराक्रमी राजा हो गये हैं। उन सब राजाओंके चरित्र सुनकर मनुष्य पवित्र हो जाता है। इन्हीं राजाओंका चरित्र सुनाकर मार्कण्डेय मुनि विरत हो जाते हैं। यहीं मार्कण्डेय-पुराणकी समाप्ति होती है।

अठारह पुराणोंकी नामावली तथा उनके पाठकी महिमा

मार्कण्डेयपुराणका पुराणोंकी गणनामें सातवाँ स्थान है। उनकी संख्या इस प्रकार दी गयी है—(१) ब्रह्मपुराण, (२) पद्मपुराण, (३) विष्णुपुराण, (४) शिवपुराण, (५) श्रीमद्भागवत, (६) नारदीयपुराण, (७) मार्कण्डेय-पुराण, (८) अग्निपुराण, (९) भविष्यपुराण, (१०) ब्रह्मवैवर्तपुराण, (११) नृसिंहपुराण, (१२) वाराहपुराण, (१३) स्कन्दपुराण, (१४) वामनपुराण, (१५) कूर्मपुराण, (१६) मत्स्यपुराण, (१७) गरुडपुराण और (१८) ब्रह्माण्डपुराण कहते हैं जो प्रतिदिन इन अठारहों पुराणोंका नाम लेता तथा प्रतिदिन तीनों समय इस नामावलीका जप करता है, उसे अश्वमेध-यज्ञका

फल मिलता है। मार्कण्डेयपुराणके श्रवणका भी महान् फल बताया गया है, उसके सुननेसे करोड़ों कल्पोंके किये हुए पापसमूह नष्ट हो जाते हैं तथा परम योगकी प्राप्ति होती है। उसे न यमराजसे भय होता है न नरकोंसे। इस पृथ्वीपर उसकी वंशपरम्परा सदा कायम रहती है।

ब्रह्मपुराणपर एक विहङ्गम-दृष्टि

ब्रह्मपुराणका उपक्रम तथा राजा पृथुका चरित्र

ब्रह्मपुराणमें लोमहर्षण सूतका शौनकादि ऋषियोंके साथ संवाद है। उसमें पहले-पहल सृष्टिकी उत्पत्ति तथा महाराज पृथुका पावन चरित्र वर्णित है। प्रजाका रञ्जन करनेके कारण वे सर्वप्रथम राजा कहलाये। वे जब समुद्रकी यात्रा करते, उस समय समुद्रका जल स्थिर हो जाता था। पर्वत उन्हें जानेके लिये मार्ग दे दिया करते थे और उनके रथकी ध्वजा कभी भङ्ग नहीं हुई। उनके राज्यमें पृथ्वी बिना जोते-बोये ही अन्न पैदा करती थी। यही नहीं, राजाका चिन्तन करनेमात्रसे लोगोंका अन्न अपने-आप पक जाया करता था। सभी गौएँ कामधेनु बन गयी थीं और वृक्षोंके पत्तों-पत्तोंमें मधु भरा रहता था। सूत और मागधोंने जैसी-जैसी इनकी स्तुति की, उसी-उसीके अनुरूप इन्होंने कर्म कर दिखाये। तभीसे लोकमें सूत, मागध एवं वन्दीजनोंद्वारा आशीर्वाद दिलानेकी परिपाटी चल पड़ी। भूमिको सम करनेका कार्य भी राजा पृथुने ही किया। इससे पहले भूमि समतल न होनेके कारण पुरों अथवा ग्रामोंका कोई सीमाबद्ध विभाग नहीं हो सका था। उस समय अन्न, गोरक्षा, खेती और व्यापार भी नहीं होते थे। यह सब पृथुके समयसे ही प्रारम्भ हुआ है। उस समयतक प्रजाका आहार केवल फल-मूल ही था और वह भी बड़ी कठिनाईसे मिलता था। राजा पृथुने पृथ्वीसे सब प्रकारके अन्नोंका दोहन किया। उन्हीं अन्नोंसे आज भी प्रजा जीवन धारण करती है। पृथुने ही इस पृथ्वीका विभाग एवं शोधन किया, जिससे यह अन्नकी खान और समृद्धिशालिनी बन गयी तथा गाँवों और नगरोंसे इसकी शोभा हो गयी। पृथुके सम्बन्धसे ही इसका नाम पृथ्वी हुआ।

भारतवर्षकी महिमा तथा भगवन्नामका अलौकिक माहात्म्य

इसके अनन्तर चौदह मन्वन्तरों तथा विवस्वान्‌की संततिका वर्णन है और फिर क्रमशः सूर्यवंश एवं चन्द्रवंशके नृपतियोंका उल्लेख है। इसी प्रसङ्गमें जम्बूद्वीप तथा उसके विभिन्न वर्षोंसहित भारतवर्षका वर्णन है। भारतवर्षमें ही पारलौकिक लाभके लिये यति तपस्या करते, यज्ञकर्ता अग्निमें आहुति डालते तथा दाता आदरपूर्वक दान देते हैं। यहाँ लाखों जन्म धारण करनेके बाद बहुत बड़े पुण्यके संचयसे जीव कभी मनुष्यजन्म पाता है। इसके बाद अन्य द्वीपोंका तथा पाताल एवं नरकोंका वर्णन है और उसी प्रसङ्गमें भगवन्नामकी अलौकिक महिमाका निरूपण किया गया है। तपश्चर्यात्मक सम्पूर्ण प्रायश्चित्तोंमें भगवान् श्रीकृष्णका निरन्तर स्मरण श्रेष्ठ है। पाप कर लेनेपर जिस पुरुषको उसके लिये पश्चात्ताप होता है, उसके लिये एक बार भगवान् श्रीहरिका स्मरण कर लेना ही सर्वोत्तम प्रायश्चित्त बताया गया है। भगवान् नारायणका स्मरण करनेवाला मनुष्य तत्काल पापमुक्त हो जाता है। इसलिये जो पुरुष रात-दिन भगवान् विष्णुका स्मरण करता है, वह अपने समस्त पातकोंका नाश हो जानेके कारण कभी नरकमें नहीं पड़ता। यही नहीं, भगवान् विष्णुके स्मरण और कीर्तनसे सम्पूर्ण क्लेशराशिके क्षीण हो जानेपर मनुष्य मुक्त हो जाता है। उसके लिये फलरूपसे इन्द्रादिके पदकी प्राप्ति विघ्नमात्र है। कहाँ तो जहाँसे लौटना पड़ता है, ऐसे स्वर्गलोककी प्राप्ति और कहाँ मोक्षके सर्वोत्तम बीज वासुदेव-मन्त्रका जप! दोनोंमें कोई तुलना नहीं है।

भगवान् विष्णुका स्वरूप

इसके बाद सूर्य आदि ग्रहों तथा भुवः आदि लोकोंकी स्थिति तथा श्रीविष्णुके प्रभावका वर्णन है। भगवान् विष्णु ही परब्रह्म हैं। उन्हींसे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है, वे ही जगत्स्वरूप हैं तथा उन्हींमें इस जगत्का लय होगा। सत् और असत् दोनों वे ही हैं, वे ही परमपद हैं, वे ही अव्याकृत मूलप्रकृति और वे ही व्याकृत जगत् हैं। यह सब कुछ उन्हींमें लय होता है

और उन्हींके आधार स्थित रहता है। वे ही क्रियाओंके कर्ता—यजमान हैं, उन्हींका यज्ञोंद्वारा पूजन किया जाता है तथा यज्ञ और उसके फल भी वे ही हैं। युग आदि सब कुछ उन्हींसे प्रवृत्त होता है। उन श्रीहरिसे भिन्न कुछ भी नहीं है।

ब्रह्माजीके द्वारा भारतकी महिमाका वर्णन

इसके बाद तीर्थोंका वर्णन और फिर व्यासजीका मुनियोंके साथ संवाद है। उसीके अन्तर्गत ब्रह्माजीका भृगु आदि मुनीश्वरोंके साथ संवाद है। ब्रह्माजीके द्वारा उपदिष्ट होनेके कारण ही इस पुराणकी ब्रह्मपुराण संज्ञा हुई है। ब्रह्माजीने सर्वप्रथम भारतवर्षकी महिमाका वर्णन किया। उन्होंने बताया कि यह परम प्राचीन तथा भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाला उत्तम क्षेत्र है। यहीं किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्ग और नरक प्राप्त होते हैं। यहाँ ब्राह्मण आदि वर्ण भलीभाँति संयमपूर्वक रहते हुए अपने-अपने कर्मोंका अनुष्ठान करके उत्तम सिद्धिको प्राप्त होते हैं। भारतवर्षमें संयमशील पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—सब कुछ प्राप्त करते हैं। इन्द्रादि देवताओंने भारतवर्षमें शुभकर्मोंका अनुष्ठान करके ही देवत्व प्राप्त किया है। इसके सिवा अन्य जितेन्द्रिय पुरुषोंने भी भारतवर्षमें शान्त, वीतराग एवं मात्सर्य रहित जीवन बिताते हुए मोक्ष प्राप्त किया है। देवता सदा इस बातकी अभिलाषा करते हैं कि हमलोग कब स्वर्ग और मोक्ष प्रदान करनेवाले भारतवर्षमें जन्म लेकर निरन्तर उसका दर्शन करेंगे। इस प्रकार जिस सौभाग्यके लिये देवतालोग भी तरसते हैं, वह दुर्लभ सौभाग्य भगवान्‌की असीम अनुकम्पासे हम भारत-वासियोंको अनायास प्राप्त है। हमें चाहिये कि हम शीघ्र-से-शीघ्र भगवान्‌के चरणोंकी सन्निधि प्राप्तकर अपना जन्म और जीवन सफल करें। इसीके लिये हमें भगवान्‌ने दयापूर्वक यहाँ जन्म दिया है।

देवी पार्वतीकी अनुपम धर्मनिष्ठा

इसके बाद भगवान् सूर्यकी महिमा तथा अदितिके गर्भसे उनके अवतारका

वर्णन है। इसके अनन्तर भगवती पार्वतीका पावन चरित्र है। वे बचपनसे ही भगवान् शङ्करको पतिरूपमें पानेके लिये तपस्यामें प्रवृत्त हो गयी थीं। वास्तवमें तो वे शङ्करजीकी स्वरूपा-शक्ति होनेके कारण शङ्करजीसे सदा ही संयुक्त हैं, अभिन्न हैं; जगत्‌को शिक्षा देनेके लिये ही उन्होंने यह लीला की थी। देवताओंसे यह आश्वासन मिलनेपर कि 'शङ्करजी स्वयं शीघ्र ही तुम्हारा वरण करेंगे' वे तपस्यासे विरत हो गयीं। किन्तु फिर भी वे रहीं अपने आश्रममें ही। एक दिन भगवान् शङ्कर चन्द्रमाके आकारका तिलक लगाये नाटा एवं विकृतरूप धारण करके उनके पास आये। उनकी नाक कटी थी। कूबड़ निकला हुआ था। उनके मुखकी आकृति भी बिगड़ी हुई थी। उन्होंने पार्वतीसे कहा—'देवि ! मैं तुम्हारा वरण करता हूँ।' देवी पार्वतीने उन्हें पहचान लिया और अर्घ्य, पाद्य एवं मधुपर्ककके द्वारा उनका पूजन किया। फिर भी लोक-मर्यादाकी रक्षाके लिये उन्होंने विकृतरूपधारी शङ्करजीसे कहा—'भगवन् ! मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। मेरे पिता घरपर हैं। वे ही मुझे देनेमें समर्थ हैं, मैं इस समय उन्हींके अधीन हूँ।' भारतकी धर्मप्राणा देवियो ! जगज्जननी उमा ही तुम्हारे लिये सदासे आदर्श रही हैं, उन्हींके पदचिह्नोंपर चलनेमें तुम्हारी शोभा एवं तुम्हारा कल्याण है। स्त्री-स्वातन्त्र्यके पक्षपातियोंके बहकावेमें आकर अपनी प्राचीन मर्यादाका कभी त्याग न करना।

देवी पार्वतीका ब्राह्मणकी रक्षाके लिये अपूर्व त्याग

पार्वतीका धर्मानुकूल उत्तर सुनकर बाबा भोलेनाथ वहाँसे चले गये। उनके चले जानेपर पार्वतीदेवी उन्हींमें मन लगाये एक शिलापर बैठ गयीं। इसी समय देवाधिदेव शङ्कर एक नयी लीला रचनेके लिये ब्राह्मण-बालकका रूप धारणकर निकटवर्ती सरोवरमें प्रकट हुए। उस बालकको एक ग्राहने पकड़ रखा था। बालक चिल्ला रहा था—'मुझे बचाओ, मुझे बचाओ।' पीड़ित ब्राह्मणकी वह पुकार सुनकर कल्याणमयी देवी पार्वती सहसा उठ खड़ी हुईं और उस स्थानपर गयीं, जहाँ वह बालक ग्राहके मुखमें पड़ा थर-थर

काँप रहा था। भला, जगदम्बासे वह दृश्य कैसे देखा जाता। जिनके वात्सल्य-समुद्रके एक छोटे-से कणको पाकर संसारभरकी माताओंका हृदय वात्सल्यसे परिपूर्ण है, वे एक बालकको इस अवस्थामें देखकर कैसे अपनेको सँभाल सकती थीं। उन्होंने बड़े ही करुणापूर्ण शब्दोंमें ग्राहसे कहा—'ग्राहराज! इस दीन बालकको छोड़ दो।' ग्राहने कहा—'देवि! आपने अबतक जो कुछ भी तपस्या की है, वह सब-की-सब मुझे दे दें तो मैं इस बालकको छोड़ सकता हूँ।'

तपस्यासे ब्राह्मण ऊँचा है

दूसरा कोई होता तो इतने बड़े मूल्यको सुनकर सहम जाता। खासकर जो तपस्या भगवान् शङ्करको प्रसन्न करनेके उद्देश्यसे की गयी हो, उसका इस प्रकार सहसा एक बालककी प्राणरक्षाके मूल्यपर बेच डालना अत्यन्त दुष्कर कार्य था। परन्तु एक असहाय बालकके प्राण बचानेके लिये जगज्जननी सब कुछ कर सकती हैं। उन्होंने कहा—'ग्राह! मैंने जन्मसे लेकर अबतक जो भी पुण्य किया है, वह सब तुम्हारे अर्पण है। तुम कृपया इस बालकको छोड़ दो।' इस उत्तरको सुनकर ग्राहको बड़ी प्रसन्नता हुई। देवी पार्वतीकी अनुपम तपस्याको पाकर वह दोपहरके सूर्यकी भाँति तेजसे प्रज्वलित हो उठा। उस समय उसकी ओर देखना कठिन था। उसने कहा—'महाव्रते! तुमने यह क्या किया। भलीभाँति सोचकर देखो, तपस्याका उपार्जन बड़ी कठिनतासे होता है। अतः तुम अपनी तपस्या वापस ले लो। मैं तुम्हारे इस अनुपम त्यागसे ही प्रसन्न होकर इस बालकको छोड़े देता हूँ।' ग्राहके इस वचनको सुनकर देवीने जो उत्तर दिया, वह स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित करने योग्य है। वह उन्हींके अनुरूप था। देवीने कहा—'ग्राह! मुझे अपना शरीर देकर भी ब्राह्मणकी रक्षा करनी चाहिये। तपस्या तो मैं फिर भी कर सकती हूँ; किन्तु यह ब्राह्मण पुनः नहीं मिल सकता। महाग्राह! मैंने भलीभाँति सोचकर ही तपस्याके द्वारा बालकको छुड़ाया है। तपस्या ब्राह्मणोंसे श्रेष्ठ नहीं है, तपस्यासे

मैं ब्राह्मणोंको ही श्रेष्ठ मानती हूँ। ग्राहराज ! मैं तपस्या देकर फिर नहीं लूँगी। कोई भी भला आदमी दी हुई वस्तुको वापस नहीं लेता। अतः यह तपस्या तुममें ही शोभित हो। कृपया इस बालकको छोड़ दो।'

भगवान्‌को अर्पण किया हुआ सब कुछ अक्षय हो जाता है

पार्वतीके यों कहनेपर ग्राहने उनकी बड़ी प्रशंसा की, बालकको छोड़ दिया और देवीको नमस्कार करके वह वहीं अन्तर्धान हो गया। अपनी तपस्याकी हानि समझकर पार्वतीने पुनः नियमपूर्वक तप आरम्भ किया। इसपर भगवान् शङ्कर उनके सामने प्रकट हो गये और बोले—'देवि ! अब और तपस्या न करो। तुमने अपना तप मुझीको अर्पण किया है, अतः वह अक्षय हो गया है।' सच है, भगवान्‌को अर्पण किया हुआ पत्र-पुष्प अथवा जल भी अक्षय हो जाता है, फिर तपस्याकी तो बात ही क्या है।

पार्वती-स्वयंवर

पार्वतीके पिताने अब अपनी पुत्रीके लिये स्वयंवर रचा। स्वयंवरकी घोषणा होते ही सम्पूर्ण लोकोंमें निवास करनेवाले देवता सज-सजकर गिरिराज हिमालयके यहाँ जुटने लगे। भगवती उमा जयमाला हाथमें लिये देव-समाजमें उपस्थित हुईं। इतनेमें ही देवीकी परीक्षाके लिये भगवान् शङ्कर पाँच शिखाओंवाले शिशु बनकर सहसा उनकी गोदमें आकर सो गये। देवीने बालक बने हुए अपने स्वामीको पहचान लिया और बड़े प्रेमके साथ उन्हें अपने अङ्कमें ले लिया। अपने अभीष्ट वरको पाकर देवी पार्वती स्वयंवरसे लौट पड़ीं। इधर देवीके अङ्कमें सोये हुए उस शिशुको देखकर देवतालोग चक्करमें पड़ गये और सोचने लगे कि यह कौन है। देवराज इन्द्रने अपनी एक बाँह ऊपर उठाकर उस बालकपर वज्रका प्रहार करनेकी चेष्टा की, किन्तु शिशुरूपधारी शङ्करने उन्हें स्तम्भित कर दिया। अब वे न तो वज्र चला सके और न हिल-डुल सके। तब भग नामके देवताने बालकपर एक तेजस्वी शस्त्र चलाना चाहा, किन्तु भगवान्‌ने उनकी बाँहको भी जडवत् बना दिया। साथ

ही उनका बल, तेज और योगशक्ति भी हर ली। उस समय ब्रह्माजीने शङ्करजीको पहचान लिया और शीघ्र उठकर उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया तथा देवताओंको भी उनका परिचय कराया। तब वे जडवत् बने हुए देवता शुद्धचित्तसे मन-ही-मन महादेवजीको प्रणाम करने लगे। इससे देवाधिदेव महादेवने प्रसन्न होकर उनका शरीर पहले-जैसा कर दिया। तत्पश्चात् देवेश्वरने परम अद्भुत त्रिनेत्रधारी विग्रह धारण किया। उस समय उनके तेजसे तिरस्कृत हो सम्पूर्ण देवताओंने नेत्र बंद कर लिये। तब उन्होंने देवताओंको दिव्य दृष्टि प्रदान की, जिससे वे उनके दिव्य स्वरूपका दर्शन कर सके। तदनन्तर पार्वतीदेवीने अत्यन्त प्रसन्न हो देवताओंके देखते-देखते अपने हाथकी माला भगवान्‌के चरणोंमें चढ़ा दी। यह देख सब देवता साधु-साधु कहने लगे। फिर उन लोगोंने भूमिपर मस्तक टेककर देवीसहित महादेवजीको प्रणाम किया। तत्पश्चात् शास्त्रोक्त विधिसे पार्वती-परमेश्वरका विवाह सम्पन्न हुआ।

गौतमी गङ्गाका माहात्म्य

इसके अनन्तर दक्षयज्ञ-विध्वंसकी कथा, शरणागत दक्षपर भगवान् शङ्करकी कृपा, एकाम्रकक्षेत्र तथा श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्रकी महिमा, मार्कण्डेय मुनिका चरित्र, भगवान् पुरुषोत्तमकी पूजा एवं दर्शनका फल आदि विविध विषयोंका वर्णन है। इसके बाद गौतमी गङ्गा (गोदावरी) तथा भागीरथी गङ्गाकी उत्पत्ति तथा गौतमी गङ्गाके माहात्म्यका विस्तृत वर्णन है। गौतमी गङ्गाके माहात्म्यका प्रसङ्ग किसी-किसी मुद्रित प्रतिमें अलग दिया गया है और किन्हीं-किन्हीं विद्वानोंका मत है कि यह ब्रह्मपुराणसे अलग है। हस्तलिखित प्रतियोंमें भी इसकी सर्वत्र उपलब्धि नहीं होती। फिर भी कई मुद्रित प्रतियोंके आधारपर हमने इसे ब्रह्मपुराणका ही अङ्ग मान लिया है। वास्तवमें यह ब्रह्मपुराणके अन्तर्गत है या नहीं—इसका निर्णय विद्वान् समीक्षक करेंगे।

कपोत-कपोतीका अद्भुत त्याग तथा अतिथि-सेवाका महत्त्व

गौतमी-माहात्म्यके अन्तर्गत कपोत-तीर्थके प्रसङ्गमें कपोत-दम्पतिका

चरित्र बड़ा ही रोमाञ्चजनक एवं प्रभावोत्पादक है। अन्य महाभारतादि ग्रन्थोंमें भी इसका उल्लेख मिलता है। कहते हैं, ब्रह्मगिरिपर एक बड़ा भयङ्कर व्याध रहता था। वह ब्राह्मणों, साधुओं, यतियों, गौओं, पक्षियों तथा मृगोंकी हत्या किया करता था। उस महापापी व्याधके मनमें सदा पापके ही संकल्प उठा करते थे। उसकी स्त्री और पुत्र भी वैसे ही क्रूर स्वभावके थे। एक दिन अपनी पत्नीकी प्रेरणासे वह घने जंगलमें घुस गया। वहाँ उस पापीने अनेक प्रकारके मृगों और पक्षियोंका वध किया। कितनोंको जीवित ही पकड़कर पिंजरेमें डाल दिया। इस प्रकार बहुत दूरतक घूम-फिरकर वह अपने घरकी ओर लौटा। रास्तेमें बड़े जोरकी वर्षा आयी। हवा भी तेज चलने लगी और पानीके साथ पत्थर भी गिरने लगे। व्याध राह चलते-चलते थक गया था। जलकी अधिकताके कारण मार्गका ज्ञान ही नहीं हो पाता था। जल, थल और गड्ढेकी पहचान असम्भव हो गयी थी। व्याध बड़ी चिन्तामें पड़ गया। उसे कोई ऐसा स्थान नहीं दिखायी दिया, जहाँ बैठकर वह वर्षा एवं वातसे त्राण पा सकता। इतनेमें ही उसे थोड़ी दूरपर एक बहुत बड़ा वृक्ष दिखायी दिया, जो शाखाओं एवं पल्लवोंसे सुशोभित था। वह उसीके नीचे आकर बैठ गया। उसके सारे वस्त्र भीग गये थे। उसे अब स्त्री और बच्चोंकी चिन्ताने आ घेरा। इतनेमें सूर्यास्त होनेको आ गया।

उसी वृक्षपर एक कपोत पक्षी अपनी स्त्री और बच्चोंके साथ रहता था। उस वृक्षपर रहते उसको कई वर्ष बीत गये थे। वह अपने परिवारके साथ बड़ा सुखी था। उसकी स्त्री कपोती बड़ी पतिव्रता थी। वह अपने पति एवं पुत्रोंके साथ उसी वृक्षके खोडरमें रहती थी। वहाँ हवा और पानीसे पूरा बचाव था। उस दिन कपोत और कपोती दोनों चारा चुगने बाहर गये थे; परन्तु अकेला कपोत ही वापस आ पाया था। दैववश कपोती उसी व्याधके जालमें फँस गयी थी, किन्तु जीवित थी। कपोत कपोतीको लौटते न देख बड़ा चिन्तित हुआ। वर्षा अबतक जारी थी और सूर्य पश्चिममें डूब चुके थे। अब

तो कपोत लगा रोने। उसे क्या पता था कि उसकी कपोती वहीं पिंजरेमें बंद है। कपोतका करुण विलाप सुनकर कपोती पिंजरेमेंसे बोली—'प्राणनाथ! मैं यहीं पिंजरेमें बंद हूँ। आप मेरे लिये चिन्ता न करें।' कपोतीका यह वचन सुनकर कपोत वृक्षसे नीचे उतरा और कपोतीके पास चला आया। वहाँ उसने देखा कि उसकी प्रिया जीवित है और व्याध मृतककी भाँति निश्चेष्ट पड़ा है। तब उसने अपनी पत्नीको बन्धनसे मुक्त करनेका विचार किया। इसपर कपोतीने उन्हें रोकते हुए कहा—'स्वामिन्! इसके लिये कष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं है। आप अपने धर्मपर दृढ़तापूर्वक आरूढ रहें। आप जानते हैं, ब्राह्मणोंके गुरु अग्नि हैं, ब्राह्मण सब वर्णोंका गुरु है, स्त्रियोंका गुरु उसका पति है और अभ्यागत सबका गुरु है। जो लोग अपने घरपर आये हुए अतिथिको वचनोंद्वारा सन्तुष्ट करते हैं, उनके उन वचनोंसे वाणीकी अधीश्वरी सरस्वती देवी प्रसन्न होती हैं; अतिथिको अन्न देनेसे इन्द्र तृप्त होते हैं; उसके चरण धोनेसे पितर, उसे भोजन करानेसे प्रजापति, उसकी सेवा-पूजासे लक्ष्मीसहित श्रीविष्णु तथा उसे सुखपूर्वक शयन करानेसे सम्पूर्ण देवता तृप्त होते हैं। अतः अतिथि सबके लिये परम पूज्य है। यदि सूर्यास्तके बाद थका-माँदा अतिथि घरपर आ जाय तो उसे देवता समझे; क्योंकि वह सब यज्ञोंका फलरूप है। थके हुए अतिथिके साथ गृहस्थके घरपर सम्पूर्ण देवता, पितर और अग्नि भी पधारते हैं। यदि अतिथि तृप्त हुआ तो उन्हें भी बड़ी प्रसन्नता होती है; और यदि वह निराश होकर चला गया तो वे भी निराश होकर ही लौटते हैं। अतः प्राणनाथ! आप सर्वथा दुःख छोड़कर शान्ति धारण करें और अपनी बुद्धिको शुभकर्ममें लगाकर धर्मका सम्पादन करें। दूसरोंके द्वारा किये हुए उपकार और अपकार दोनों ही साधु पुरुषोंके विचारसे श्रेष्ठ हैं। उपकार करनेवालोंपर तो सभी उपकार करते हैं; अपकार करनेवालोंके साथ जो अच्छा बर्ताव करे, वही पुण्यका भागी बताया गया है।'

अतिथि-सेवाके लिये धनकी आवश्यकता नहीं है

कपोतीके इन धर्ममय वचनोंको सुनकर कपोतको बड़ी प्रसन्नता हुई। वह बोला—'प्रिये ! तुम्हारी बात बिलकुल यथार्थ है। परन्तु इस सम्बन्धमें मुझे भी एक बात तुमसे कहनी है। वह यह है कि कोई हजार प्राणियोंका भरण-पोषण करता है, दूसरा दसका ही निर्वाह करता है और कोई ऐसा है, जो सुखपूर्वक केवल अपनी जीविका चला लेता है। परन्तु हमलोग तो ऐसे जीवोंमेंसे हैं, जो अपना ही पेट बड़े कष्टसे भर पाते हैं। कुछ लोग खाई खोदकर उसमें अन्न भरकर रखते हैं, कुछ लोग कोठेभर अन्नके धनी होते हैं और कितने ही घड़ोंमें धान भरकर रखते हैं। परन्तु हमारे पास तो उतना ही संग्रह रहता है, जितना हमारी चोंचमें आ जाय। शुभे ! तुम्हीं बताओ, ऐसी दशामें मैं थके-माँदे अतिथिका आदर-सत्कार किस प्रकार करूँ ?' कपोतीने कहा—'प्राणनाथ ! अग्नि, जल, मीठी वाणी, तृण और काष्ठ आदि जिससे भी सम्भव हो, अतिथिकी सेवा करनी चाहिये।'

कपोत-दम्पतिका स्वर्ग-गमन

अपनी प्यारी स्त्रीका कथन सुनकर पक्षिराज कपोतने पेड़के शिखरपर पहुँचकर सब ओर देखा तो कुछ दूरीपर उसे आग दिखायी दी। वहाँ जाकर वह चोंचसे एक जलती हुई लकड़ी उठा लाया और व्याधके आगे रखकर उसने अग्नि प्रज्वलित की। फिर सूखी लकड़ियाँ, पत्ते और तिनके ला-लाकर वह आगमें डालने लगा। उसे देखकर सर्दीसे दुःखी व्याधने जडवत् बने हुए अपने अङ्गोंको सेंका। इससे उसे बड़ा आराम मिला। कपोतीने देखा, व्याध क्षुधाकी आगमें जल रहा है; अतः उसने अपने स्वामीसे कहा—'नाथ ! मुझे आगमें डाल दीजिये। मैं अपने शरीरसे इस व्याधको तृप्त करूँगी।' कपोतने कहा—'मेरे रहते तुम्हारा यह धर्म नहीं है। आज तो मुझे ही अतिथि-यज्ञ करने दो।' यों कहते हुए पत्नीके उत्तरकी प्रतीक्षा न करके कपोतने भगवत्-स्मरणपूर्वक अग्निकी तीन बार प्रदक्षिणा की; फिर व्याधसे यह कहता

हुआ अग्निमें कूद पड़ा कि 'मुझे सुखपूर्वक उपयोगमें लाओ।' कपोतके इस दैवी व्यवहारको देखकर व्याध तो लज्जाके मारे गड़ गया और अपने मनुष्य-जीवनको धिक्कारने लगा। इसपर व्याधसे कपोतीने कहा—'महाभाग ! अब मुझे छोड़ दो, मैं अपने पतिदेवका सहगमन करूँगी।' उसकी बात सुनकर व्याध हक्का-बक्का-सा रह गया और उसने तुरंत ही कपोतीको बन्धनमुक्त कर दिया। व्याधके देखते-देखते कपोतीने भी अपने पतिके मार्गका ही अनुसरण किया। उसने पृथ्वी, देवता, गङ्गा तथा वनस्पतियोंको नमस्कार किया और अपने बच्चोंको सान्त्वना देकर व्याधसे कहा—'महाभाग ! तुम्हारी ही कृपासे मुझे यह अनुपम सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मैं पतिके साथ स्वर्गलोकमें जाती हूँ।' यों कहकर वह पतिव्रता कपोती आगमें प्रवेश कर गयी। उसी समय आकाशमें जय-जयकारकी ध्वनि गूँज उठी ! तत्काल ही सूर्यके समान तेजस्वी अत्यन्त सुन्दर विमान आकाशसे उतर आया। कपोत और कपोती दोनों देवताओंके समान दिव्य शरीर धारण करके उसपर आरूढ़ हुए और आश्चर्यचकित व्याधसे प्रसन्न होकर बोले—'महामते ! हम देवलोकमें जाते हैं और तुम्हारी आज्ञा चाहते हैं। तुम अतिथिके रूपमें हम दोनोंके लिये स्वर्गकी सीढ़ी बनकर आ गये। तुम्हें नमस्कार है।'

गोदावरी-स्नानका माहात्म्य

उन दोनोंको श्रेष्ठ विमानपर बैठे देख व्याधने भी अपना धनुष और पिंजरा फेंक दिया और हाथ जोड़कर कहा—'महाभागो ! मेरा त्याग न करो। मैं अज्ञानी हूँ। मुझे भी कुछ उपदेश दो। मैं तुम्हारे लिये सम्मान्य अतिथि होकर आया था, इसलिये मेरे उद्धारका भी उपाय बताते जाओ।' उन दोनोंने कहा—'व्याध ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम भगवती गोदावरीके तटपर जाओ और उन्हींको अपना पाप भेंट कर दो। वहाँ पंद्रह दिनोंतक डुबकी लगानेसे तुम पापमुक्त हो जाओगे। पापमुक्त होकर जब तुम पुनः गौतमी गङ्गामें स्नान करोगे, तब अश्वमेध यज्ञका फल पाकर अत्यन्त पुण्यवान् हो जाओगे।' उन

दोनोंकी बात सुनकर व्याधने वैसा ही किया। फिर वह भी दिव्यरूप धारण करके एक श्रेष्ठ विमानपर जा बैठा। तभीसे वह स्थान कपोततीर्थके नामसे विख्यात हुआ। वहाँ स्नान, दान, पितृ-तर्पण, जप, यज्ञ आदि कर्म करनेपर वे अक्षय फलको देनेवाले बन जाते हैं।

त्यागकी महिमा

अतिथि-सत्काररूप गृहस्थ-धर्मका पालन करनेके लिये उस कपोत-दम्पतिने जो अनुपम एवं आदर्श त्याग किया, वह जगत्के इतिहासमें अद्वितीय है। पशु-पक्षियोंकी तो बात ही क्या, मनुष्योंमें भी वैसी त्यागबुद्धि होनी अत्यन्त कठिन है। शिबि आदि थोड़े-से नररत्नोंमें ही ऐसे त्यागका उदाहरण मिलता है। जिस देशमें और जिस धर्मकी छत्रछायामें पले हुए पक्षियोंमें भी ऐसा अद्भुत त्याग पाया जाता है, उस देश और उस धर्मकी कहाँतक बड़ाई की जाय। वास्तवमें त्याग ही उन्नति एवं सुखका मूल है। जगत्ने आज त्यागके आदर्शको छोड़ दिया, इसीलिये वह दुःखोंका केन्द्र बना हुआ है। त्यागसे मनुष्य किसी प्रकार भी घाटेमें नहीं रहता। बीज बोये जाते हैं बहुत थोड़े, परंतु उनसे दाने कई गुने पैदा हो जाते हैं। फिर उन दानोंका उगना तो हमारे प्रारब्धपर निर्भर है, किंतु त्यागका फल तो अवश्य होता है। कपोत-कपोतीने त्याग तो किया था कपोत-शरीरका, जो सब प्रकारसे अधम और थोड़े दिन रहनेवाला था और उसमें वे सर्वथा कष्टका ही अनुभव करते थे। परन्तु बदलेमें उन्हें मिले चिरकालतक रहनेवाले देवशरीर और दिव्यभोग। फिर भी मनुष्यको विश्वास नहीं होता, इसीलिये वह थोड़े लाभका त्याग न करके महान् लाभसे वञ्चित रह जाता है। इस आख्यानसे यह भी सिद्ध हो गया कि किसीकी सेवा-सत्कारके लिये विपुल धनकी आवश्यकता नहीं है। जो भी जिसके पास है, उसीसे सेवा हो सकती है। सेवामें प्रधान वस्तु भाव है। त्यागकी भावना होनेसे थोड़ी-सी भी सेवा महान् फलदायक हो जाती है। सेवामें ऊँची बात यह है कि सेवक सेवा स्वीकार करनेवालेका

उपकार माने; यह न समझे कि मैं सेवा करके किसीका उपकार कर रहा हूँ। विचार करके देखा जाय तो बात भी ऐसी ही है। व्याध यदि कपोत-कपोतीके यहाँ अतिथि बनकर न आता और उन्हें सेवाका अवसर न देता तो उन्हें वह दिव्य सुख कैसे प्राप्त होता। आतिथ्यके लिये पात्रापात्रका भी विचार नहीं किया जाता। अतिथि चाहे वर्णमें नीचा हो, पापीसे भी पापी हो, हिंसक हो—यहाँतक कि अपना अपकारी अथवा शत्रु भी क्यों न हो—उसकी बिना विचारे तन-मन-धनसे सेवा करना गृहस्थका परम धर्म है। अतिथि और शरणागत—ये दो चाहे कैसे भी हों, ये सर्वथा हमारी सेवा एवं रक्षाके पात्र होते हैं। अतिथि और शरणागतके लिये प्राणोंका त्याग भी करना पड़े तो वह थोड़ा है; बल्कि उनके लिये त्याग न करनेमें बड़ी हानि और पाप बताया गया है। हमारे प्राचीन शास्त्रोंका ही अनुवाद करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजीने यहाँतक कह दिया है—

सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पावँर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि॥

हिंदू-धर्मकी महत्ता

शरणागत पापी है अथवा उसकी रक्षा करनेमें हमारी लौकिक हानि होगी—यह विचारकर उसकी रक्षासे मुँह मोड़नेवाला स्वयं पापी ही नहीं, मनुष्यके वेषमें राक्षस है! जिस धर्ममें अतिथि-सेवा और शरणागतकी रक्षापर इतना जोर दिया गया हो, उस धर्मकी तुलनामें कौन धर्म ठहर सकता है। अतिथि-सेवा ही नहीं, जीवमात्रकी सेवाको हमारे यहाँ महायज्ञ—भगवान्‌की बहुत बड़ी पूजा माना गया है और उसे अवश्यकर्तव्य बताया गया है। पञ्चमहायज्ञ और क्या हैं? उनमें देवताओंसे लेकर छोटे-से-छोटे जीवतककी सेवाका ही तो विधान है। प्राणियोंकी ही नहीं, पेड़-पौधोंतककी सेवा एवं रक्षा तथा भूमि एवं पर्वतों तथा चन्द्र और सूर्य आदि ग्रहोंतककी पूजाका हिंदू-धर्ममें विधान है, जिन्हें आजका जगत् जड मानकर अवहेलना

करता है। आज लोग यह कहकर हमारी खिल्ली उड़ाते हैं कि हिंदू पत्थर पूजते हैं; परन्तु इस रहस्यको कोई नहीं जानता कि हिंदू चेतन जीवमात्रको ही नहीं, कंकड और पत्थर तथा अग्नि और जल-जैसी जड वस्तुओंमें भी भगवान्‌को ही देखते हैं, उनके रूपमें भी भगवान्‌को ही पूजते हैं। हमारे भगवान् किसी देशविशेष अथवा वस्तुविशेषमें सीमित नहीं, वे तो अणु-अणुमें व्याप्त हैं। भगवान् और सीमित, यह तो वदतोव्याघात है। भगवान् ऐसे नहीं, वैसे हैं; वे निराकार हैं, साकार नहीं हो सकते; वे मनुष्य अथवा पशु-पक्षीके रूपमें अवतरित नहीं हो सकते—यह कहना तो भगवान्‌पर शासन करना हुआ। जो लोग भगवान्‌को इतना सीमित मानते हैं, वे तो दयाके पात्र हैं। भगवान् क्या हैं, इसे तो भगवान् ही जान सकते हैं, दूसरे किसकी सामर्थ्य है। हम तो इतना ही कह सकते हैं—वे सब कुछ हैं, सबसे परे हैं और सबमें भरे हैं। जिसे हम असत् कहते हैं, वह भी वे ही हैं। वे-ही-वे हैं। उनके सिवा कुछ नहीं। यही हिंदू-धर्म है।

धर्मनिष्ठाका अपूर्व उदाहरण

चक्षुस्तीर्थके माहात्म्यके प्रसङ्गमें मणिकुण्डल नामक वैश्यका चरित्र बड़ा ही उदात्त है। गौतमीके दक्षिण-तटपर भौवन नामका एक विख्यात नगर था। उसमें गौतम नामका एक ब्राह्मण रहता था। गौतमकी एक वैश्यके साथ मित्रता हो गयी। वैश्यका नाम मणिकुण्डल था। इनमें गौतम दरिद्र था, मणिकुण्डल धनी। एक बार गौतमकी प्रेरणासे दोनों मित्रोंने धन कमानेके उद्देश्यसे विदेश जानेका निश्चय किया। मणिकुण्डलने अपने घरसे बहुत-से रत्न लाकर गौतमको दिये और कहा—'मित्र ! इस धनसे हमलोग सुखपूर्वक देश-देशान्तरोंमें भ्रमण करेंगे और धन कमाकर फिर घर लौट आयेंगे।' इस प्रकार आपसमें सलाह करके माता-पिताको सूचना दिये बिना ही दोनों घरसे निकल पड़े। किंतु मणिकुण्डलके रत्नोंको देखकर गौतमके मनमें पाप समा गया। वह जिस किसी प्रकार उन रत्नोंको हड़प जाना चाहता था। एक बार

बातों-ही-बातोंमें दोनोंमें परस्पर विवाद छिड़ गया। गौतम कहता था—'पापसे ही जीवोंकी उन्नति होती है और वे मनोवाञ्छित सुख प्राप्त करते हैं। संसारमें धर्मात्मालोग प्रायः दुःखी ही देखे जाते हैं। अतः एकमात्र दुःखको पैदा करनेवाले धर्मसे क्या लाभ।' इसके विपरीत वैश्य कहता था—'नहीं -नहीं, ऐसी बात कदापि नहीं है। वस्तुतः धर्ममें ही सुख है। पापमें तो केवल दुःख, भय, शोक, दरिद्रता और क्लेश ही रहते हैं। जहाँ धर्म है, वहीं मुक्ति है।' इस प्रकार विवाद करते हुए दोनोंमें यह शर्त लगी कि जिसका पक्ष श्रेष्ठ सिद्ध हो, वह दूसरेका धन ले ले। इस प्रकारकी शर्त करके दोनों जो भी मिलता था, उससे यही पूछते थे—पृथ्वीपर धर्म बलवान् है या अधर्म ? इसपर किसीने उनसे यह कह दिया—'जो धर्मके अनुसार चलते हैं, उन्हें दुःख भोगना पड़ता है और इसके विपरीत बड़े-बड़े पापी मनुष्य सुखी देखे जाते हैं।' यह निर्णय सुनकर वैश्यने अपना सारा धन ब्राह्मणको दे दिया; किंतु मणिकुण्डलकी धर्ममें दृढ़ निष्ठा थी, बाजी हार जानेपर भी वह बराबर धर्मकी ही प्रशंसा करता रहा।

तब ब्राह्मणने कहा—'अच्छा, तो अब दोनों हाथोंकी बाजी लगायी जाय। जो जीत जाय, वह दूसरेके हाथ काट ले।' वैश्यने यह शर्त भी मंजूर कर ली। फिर दोनोंने जाकर पहलेकी ही भाँति लौकिक मनुष्योंसे इसका निर्णय कराया। निर्णय ज्यों-का-त्यों रहा। तब गौतमने मणिकुण्डलके दोनों हाथ काट लिये और उससे पूछा—'मित्र! अब क्या कहते हो?' मणिकुण्डल अपने निश्चयपर अटल था। उसने कहा—'भाई! मेरे प्राण कण्ठतक आ जायँ, तब भी मैं धर्मको ही श्रेष्ठ मानता रहूँगा। धर्म ही देहधारियोंकी माता, पिता, सुहृद् और बन्धु है,' इस प्रकार दोनोंमें विवाद चलता रहा। ब्राह्मण धनवान् हो गया और वैश्य धनके साथ-साथ अपने दोनों हाथ भी खो बैठा। धर्मपर दृढ़ रहनेवालोंको प्रारम्भमें इसी प्रकार कष्ट उठाने पड़ते हैं। इस तरह भ्रमण करते हुए दोनों गौतमी गङ्गाके तटपर भगवान् योगेश्वरके स्थानमें आ पहुँचे। वहाँ पहुँचनेपर फिर दोनोंमें विवाद आरम्भ हो

गया। वैश्य वहाँ भी धर्मकी ही प्रशंसा करता रहा। इससे ब्राह्मणको बड़ा क्रोध हुआ। वह वैश्यपर आक्षेप करते हुए बोला—'धन चला गया। दोनों हाथ कट गये। अब केवल तुम्हारे प्राण बाकी हैं। यदि फिर मेरे मतके विपरीत कोई बात मुँहसे निकाली तो मैं तलवारसे तुम्हारा सिर उतार लूँगा।' वैश्य हँसने लगा। उसने पुनः गौतमको चुनौती देते हुए कहा—'मैं तो धर्मको ही बड़ा मानता हूँ; तुम्हारी जो इच्छा हो, कर लो। जो ब्राह्मण, गुरु, देवता, वेद, धर्म और भगवान् विष्णुकी निन्दा करता है, वह पापाचारी मनुष्य पापरूप है। वह स्पर्श करनेयोग्य नहीं है। धर्मको दूषित करनेवाले उस पापात्मा मनुष्यका परित्याग कर देना चाहिये।' तब ब्राह्मणने कुपित होकर कहा—'यदि तुम धर्मकी प्रशंसा करते हो तो हम दोनोंके प्राणोंकी बाजी लग जाय।' वैश्यने कहा—'ठीक है।' फिर दोनोंने साधारण लोगोंसे प्रश्न किया, परंतु लोगोंने पहले-जैसा ही उत्तर दिया। तब ब्राह्मणने वहीं गौतमीके तटपर भगवान् योगेश्वरके सामने वैश्यको गिरा दिया और उसकी आँखें निकाल लीं। फिर कहा—'वैश्य! प्रतिदिन धर्मकी प्रशंसा करनेसे ही तुम इस दशाको पहुँचे हो। तुम्हारा धन गया, दोनों हाथ गये और आँखें भी जाती रहीं। मित्र! अब तुमसे विदा लेता हूँ। फिर कभी भूलकर भी धर्मकी प्रशंसा न करना।' यों कहकर क्रूर गौतम चला गया।

धर्मनिष्ठाका अमृतमय फल

गौतमके चले जानेपर वैश्यप्रवर मणिकुण्डल धन, बाहु और नेत्रोंसे रहित होकर शोकग्रस्त हो गया; तथापि वह निरन्तर धर्मका ही स्मरण करता रहा। अनेक प्रकारकी चिन्ता करते हुए वह भूतलपर निश्चेष्ट होकर पड़ा था। उसके हृदयमें उत्साह नहीं रह गया था। वह शोक-सागरमें डूबा हुआ था। दिन बीता, रजनीका आगमन हुआ और चन्द्रमण्डलका उदय हो गया। उस दिन शुक्ल-पक्षकी एकादशी थी। एकादशीको वहाँ लङ्कासे विभीषण आया करते थे। उस दिन भी आये; आकर उन्होंने पुत्र और राक्षसोंसहित गौतमी गङ्गामें स्नान

किया और योगेश्वर भगवान् विष्णुकी विधिपूर्वक पूजा की। विभीषणका पुत्र भी विभीषणके ही समान धर्मात्मा था। उसे लोग वैभीषणि कहते थे। उसकी दृष्टि उस वैश्यपर पड़ी। वैश्यका सारा वृत्तान्त जानकर उसने अपने पिता विभीषणसे कहा। लङ्कापतिने कहा—'पुत्र! इसी जगह विशल्यकरणी नामकी ओषधि है। उसे ले आकर तुम भगवान्‌का स्मरण करते हुए इसके हृदयपर रख दो। उसका स्पर्श होते ही वैश्यकी आँखें और हाथ फिर ज्यों-के-त्यों हो जायँगे।' वैभीषणि अपने पितासे ओषधिका परिचय प्राप्तकर उसकी एक शाखा ले आये और विभीषणके कथनानुसार उसे वैश्यके हृदयपर रख दिया। वैश्य तत्काल पुनः हाथ और नेत्रोंसे युक्त हो गया। मणि, मन्त्र और ओषधियोंके प्रभावको कोई नहीं जानता। वैश्यने धर्मका चिन्तन करते हुए गौतमी गङ्गामें स्नान किया और योगेश्वर भगवान् विष्णुको नमस्कार करके पुनः आगे बढ़ा। उसने अपने साथ ओषधिकी टूटी हुई शाखा भी ले ली थी।

यतो धर्मस्ततो जयः

देश-देशान्तरोंमें भ्रमण करता हुआ मणिकुण्डल एक राजधानीमें पहुँचा, जो महापुरके नामसे विख्यात थी। वहाँके राजा महाराजके नामसे प्रसिद्ध थे। राजाके कोई पुत्र नहीं था, एक पुत्री थी; उसकी भी आँखें नष्ट हो चुकी थीं। राजाने यह निश्चय कर लिया था कि 'देवता, दानव, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निर्गुण या गुणवान्—कोई भी क्यों न हो—मैं उसीको यह कन्या दूँगा, जो इसकी आँखें अच्छी कर देगा। कन्या ही नहीं, यह राज्य भी उसीका होगा।' महाराजने यह घोषणा सब ओर करा दी थी। वैश्यने वह घोषणा सुनकर कहा—'मैं निश्चय ही राजकुमारीकी खोयी हुई आँखें पुनः ला दूँगा।' राजकर्मचारी शीघ्र ही वैश्यको महाराजके पास ले गया और उसने उस काष्ठका स्पर्श कराके राजकुमारीके नेत्र ठीक कर दिये। राजाको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने मणिकुण्डलका परिचय पूछा। तब मणिकुण्डलने अपना सारा वृत्तान्त राजासे कह सुनाया। राजाने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार

कन्याके साथ ही अपना राज्य भी मणिकुण्डलको दे दिया। इस प्रकार मणिकुण्डलको प्रारम्भमें कष्ट होनेपर भी अन्तमें उसकी धर्मनिष्ठाने उसे न केवल उसकी आँखें और हाथ ही वापस दिलाये, अपितु उसे राज्य भी दिलवाया। इसीलिये शास्त्रोंने कहा है—**'यतो धर्मस्ततो जयः'**। जहाँ धर्म है, वहाँ विजय होकर रहती है।

शत्रुके प्रति उपकार

परन्तु मणिकुण्डलको राज्य पाकर भी मित्रके बिना संतोष नहीं हुआ। वह रात-दिन यही कहा करता था कि मित्रके बिना न तो राज्य अच्छा है और न सुख ही अच्छा लगता है। इस प्रकार वह सदा गौतम ब्राह्मणका ही चिन्तन किया करता था। इस पृथ्वीपर उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए साधु पुरुषोंका यही लक्षण है कि अहित करनेवालोंके प्रति भी उनके मनमें सदा करुणा ही भरी रहती है। एक दिन महाराज मणिकुण्डल वनमें गये हुए थे। वहाँ उन्होंने अपने पूर्वमित्र गौतम ब्राह्मणको देखा। पापी जुआरियोंने उसका सारा धन छीन लिया था। धर्मज्ञ मणिकुण्डलने अपने ब्राह्मण मित्रको साथ ले लिया, उसका विधिपूर्वक पूजन किया और धर्मका सब प्रभाव भी बतलाया। शत्रुके प्रति ऐसा सद्व्यवहार धार्मिक पुरुष ही कर सकते हैं।

एकादशीको रात्रि-जागरणका माहात्म्य

इस प्रकार गौतमी गङ्गासे सम्बद्ध तीर्थोंका माहात्म्य वर्णन करके अनन्त वासुदेवकी महिमा कही गयी है। फिर कण्डुमुनिका चरित्र एवं उनपर भगवान् पुरुषोत्तमकी कृपाका वर्णन करके पुरुषोत्तमक्षेत्रके माहात्म्यका उपसंहार किया गया है। इसके अनन्तर भगवान्‌के अवतारका रहस्य बतलाते हुए श्रीकृष्ण-चरित्रका संक्षेपमें वर्णन किया गया है। फिर भगवान्‌के अन्य मुख्य अवतारोंका अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन करके यमलोकके मार्ग, यमपुरीके चारों द्वार तथा विविध नरकोंका वर्णन, धर्मकी महिमा, भगवद्भक्तिका प्रभाव, अन्न-दानका माहात्म्य तथा श्राद्धविषयक आवश्यक बातें बतलायी गयी हैं। इसके

बाद गृहस्थोचित सदाचार एवं कर्तव्याकर्तव्यका वर्णन करते हुए वर्णाश्रम-धर्मका निरूपण किया गया है। फिर स्वर्ग और नरकमें ले जानेवाले धर्माधर्मका स्वरूप बताकर भगवान् वासुदेवके माहात्म्यके प्रसङ्गमें एकादशीके दिन रात्रिमें जागरणपूर्वक भगवद्गुणगानकी महिमा कहते हुए एक भगवद्भक्त चाण्डालका आख्यान वर्णित हुआ है। अवन्तिकापुरी (उज्जैन) में एक भक्त चाण्डाल रहता था, जो संगीतमें कुशल था। वह उत्तम वृत्तिसे धन पैदा करके अपने कुटुम्बके लोगोंका भरण-पोषण किया करता था। भगवान् विष्णुके प्रति उसकी बड़ी भक्ति थी। वह नियम-पालनमें बड़ा दृढ़ था। प्रत्येक मासकी एकादशी तिथिको वह नियमपूर्वक उपवास करता और रात्रिके समय भगवान्के मन्दिरके समीप जाकर उन्हें भगवल्लीला सम्बन्धी गीत सुनाया करता था। द्वादशीको प्रातःकाल भगवान्को प्रणाम करके अपने घर लौटता और पहले दामाद, भानजे और कन्याओंको भोजन कराके पीछे स्वयं सपरिवार भोजन करता था। इस प्रकार करते हुए उसके जीवनका अधिकांश भाग बीत चुका था।

भक्तिनिष्ठाका अपूर्व उदाहरण

एक बार चैत्र कृष्णपक्षकी एकादशीको वह भगवान् विष्णुकी सेवाके लिये जंगली पुष्पोंका चयन करनेके निमित्त भक्तिपूर्वक उत्तम वनमें गया। क्षिप्राके तटपर महान् वनके भीतर एक बहेड़ेका पेड़ था। उसके नीचे पहुँचनेपर किसी राक्षसने उस चाण्डालको देखा और भक्षण करनेके लिये पकड़ लिया। यह देख उस चाण्डालने राक्षससे कहा—'भाई! आज तुम मुझे न खाओ, कल प्रातःकाल खा लेना। मैं शपथपूर्वक कहता हूँ, मैं स्वयं तुम्हारे पास लौट आऊँगा। राक्षस! आज मेरा बहुत बड़ा कार्य है, अतः मुझे छोड़ दो। मुझे भगवान् विष्णुकी सेवाके लिये रात्रिमें जागरण करना है। तुम्हें उसमें विघ्न नहीं डालना चाहिये।' राक्षसने उसकी बातपर विश्वास करके उसे छोड़ दिया। तब चाण्डाल फूल लेकर भगवान् विष्णुके मन्दिरपर आया।

उसने सभी फूल ब्राह्मणको दे दिये। ब्राह्मणने उन्हें जलसे धोकर उनके द्वारा भगवान्‌का पूजन किया और अपने घरकी राह ली; किंतु चाण्डालने उपवास-पूर्वक मन्दिरके बाहर ही भूमिपर बैठकर भगवान्‌के गीत गाते हुए रातभर जागरण किया। रात्रि बीतनेपर उसने स्नान करके भगवान्‌को प्रणाम किया। फिर अपनी प्रतिज्ञा सत्य करनेके लिये वह राक्षसके पास चला आया।

भक्तकी निर्भयता

चाण्डालको आया देख ब्रह्मराक्षसके नेत्र आश्चर्यसे चकित हो उठे। उसने चाण्डालसे उसकी उपासनाका सारा हाल जानकर कहा—'भैया ! तुम्हें बड़ा पुण्य होगा, तुम अपने एक रातके जागरणका फल मुझे दे दो। ऐसा करनेसे तुम्हें छुटकारा मिल सकता है, अन्यथा तुम्हें मैं कदापि नहीं छोड़नेका।' चाण्डालने कहा—'निशाचर ! मैंने तुम्हें अपना शरीर अर्पण कर दिया है। अतः अब दूसरी बात करनेसे क्या लाभ। तुम मुझे इच्छानुसार खा जाओ।' तब राक्षसने फिर कहा—'अच्छा, रातके दो ही पहरके जागरण एवं संगीतका पुण्य मुझे दे दो। तुम्हें मुझपर भी कृपा करनी चाहिये।' यह सुनकर चाण्डालने राक्षससे कहा—'यह कैसी बेसिर-पैरकी बात करते हो। मुझे इच्छानुसार खा लो। मैं तुम्हें अपने जागरणका पुण्य नहीं दूँगा।' चाण्डालकी बात सुनकर ब्रह्मराक्षसने कहा—'भाई ! तुम तो अपने धर्म-कर्मसे सुरक्षित हो; कौन ऐसा अज्ञानी और दुष्ट-बुद्धिका पुरुष होगा, जो तुम्हारी ओर ताकने, तुमपर आक्रमण करने अथवा तुम्हें पीड़ा देनेका साहस करेगा। महाभाग ! तुम मुझपर कृपा करके एक ही पहरके जागरणका पुण्य दे दो, अथवा अपने घर लौट जाओ।' चाण्डालने फिर उत्तर दिया—'न तो मैं अपने घर लौटूँगा और न तुम्हें किसी तरह एक यामके जागरणका पुण्य ही दूँगा।' यह सुनकर ब्रह्मराक्षस हँस पड़ा और बोला—'भाई ! रात्रि व्यतीत होते समय जो तुमने अन्तिम गीत गाया हो, उसीका फल मुझे दे दो और पापसे मेरा उद्धार करो।'

****

भक्त चाण्डालकी राक्षसपर कृपा

तब चाण्डालने उससे कहा—'यदि तुम आजसे किसी भी प्राणीका वध न करो तो मैं तुम्हें अपने पिछले गीतका पुण्य दे सकता हूँ; अन्यथा नहीं।' 'बहुत अच्छा' कहकर ब्रह्मराक्षसने उसकी बात मान ली। तब चाण्डालने उसे आधे मुहूर्तके जागरण एवं गानका फल दे दिया। उसे पाकर ब्रह्मराक्षसने चाण्डालको प्रणाम किया और प्रसन्न होकर वह पृथूदक तीर्थकी ओर चल दिया। वहाँ निराहार रहनेका संकल्प लेकर उसने प्राण छोड़ दिये। उस एक गीतके फलसे उसका राक्षस-योनिसे उद्धार हो गया। इधर चाण्डालके मनमें भी इस घटनासे बड़ा वैराग्य हुआ। उसने अपनी पत्नीकी रक्षाका भार पुत्रोंपर डालकर स्वयं पृथ्वीकी परिक्रमा आरम्भ कर दी। फिर पापरहित हो उसने उत्तम गति प्राप्त की।

भक्ति और मर्यादा

इस आख्यानसे हमें कई प्रकारकी शिक्षाएँ मिलती हैं। पहली बात तो यह है कि भगवान्‌की भक्तिमें नीच-ऊँच सबका समान अधिकार है। भगवान्‌का द्वार सबके लिये समानरूपसे खुला है; किंतु भक्तिके साथ-साथ जीविका भी विशुद्ध होनी चाहिये। भक्तिका अर्थ यह नहीं कि भक्त चाहे जो कुछ करे। आज हमारे अछूत भाइयोंको मन्दिरोंमें घुसानेका तो सभी लोग प्रयत्न करते हैं; परंतु उनका जीवन पवित्र हो, उनके दुर्गुण-दुराचार दूर हों—इसकी बहुत कम लोगोंको परवा है। यहाँ एक बात और समझ लेनेकी है। भक्ति और चीज है, सामाजिक व्यवस्था एवं शास्त्रीय मर्यादा दूसरी चीज है। भक्ति करनेका अधिकार तो सबको है, परंतु शास्त्रीय मर्यादाकी रक्षा करते हुए। भक्तिका जहाँ प्रश्न है, वहाँ एक भगवद्भक्त चाण्डालको एक अभक्त ब्राह्मणकी अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। परंतु किसी चाण्डाल भक्तको यह अधिकार नहीं कि वह शास्त्रकी मर्यादाका लोपकर दूसरे भक्तोंके साथ बैठकर ही भक्ति करे। यह तो भक्ति नहीं, दुराग्रह है। भक्त तो सदा अपनेको छोटा—

तृणसे भी लघु—मानता है, वह अभिमानसे कोसों दूर भागता है। इसीलिये चाण्डाल भगवान्‌के लिये पुष्प तोड़कर तो लाता था, परंतु उन्हें भगवान्‌पर स्वयं चढ़ानेका आग्रह छोड़कर उन्हें ब्राह्मणको दे देता था और ब्राह्मण देवता उन्हें पवित्र करके उपयोगमें लेते थे। इसी प्रकार वह मन्दिरके अंदर जानेका आग्रह न करके बाहर जमीनपर बैठकर ही उन्हें गान सुनाया करता था। ऐसा करनेसे चाण्डालकी भक्तिमें किसी प्रकारकी कमी नहीं आती थी। भगवान् तो ऐसे भक्तके मर्यादा, प्रेम एवं विनयसे उलटे प्रसन्न होते हैं। वे तो हमारा हृदय देखते हैं।

भक्तिमें नियमपालनका महत्त्व

भक्तके लिये यह भी आवश्यक नहीं कि वह घर छोड़कर ही भक्ति करे। घरमें रहकर अपने कुटुम्बका न्यायोचित रीतिसे भरण-पोषण करना भी भक्तिका ही एक अङ्ग है, ऐसे भक्तपर भगवान् बहुत प्रसन्न होते हैं। यदि गृहत्याग करना आवश्यक ही हो तो अपने आश्रितजनोंकी रक्षाका समुचित प्रबन्ध करके ही ऐसा करना उचित है। नियम-पालन भी भक्तिमें बड़ा सहायक है। इससे हमारी तत्परताका पता लगता है कि भगवान्‌की ओर पैर बढ़ानेके लिये हम कहाँतक तैयार हैं। जहाँ अन्य वर्णोंके लिये द्वादशीके दिन ब्राह्मणको खिलाकर स्वयं खानेका विधान है, वहाँ चाण्डालके लिये यही आज्ञा है कि वह अपने दामाद, भानजों तथा कन्याओंको भोजन कराके फिर स्वयं भोजन करे। उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि वह औरोंकी भाँति ब्राह्मणको ही जिमानेका आग्रह करे। सत्य आदि दैवी गुण भी भक्तमें स्वाभाविक ही रहते हैं। सारांश यह कि भक्तके लिये ईमानदार एवं बातका धनी होना परमावश्यक है; क्योंकि भक्तकी बदनामी भगवान्‌पर आती है।

भगवच्छरणागतिसे निर्भयता तथा भक्त-सङ्गकी अमोघता

भक्तका सबसे बड़ा गुण है—उसकी निर्भयता। जो भगवान्‌के शरण हो गया, उसे फिर भय कैसा! वह किसी भी मूल्यपर अपनी भक्तिको नहीं

बेचेगा। वह तुच्छ प्राणोंके लिये भक्तिका सौदा नहीं करेगा। असलमें तो जिसने भक्तिका कवच धारण कर रखा है, उसका जगत्‌में कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता। भगवान्‌की सारी शक्ति उसकी रक्षामें नियुक्त रहती है। वस्तुतः हम भगवान्‌पर सच्चे अर्थमें निर्भर ही नहीं करते। नहीं तो, किसी प्रकारका भय हमारे पासतक नहीं फटक सकता। हमें दुःख और भय तभीतक सताते हैं, जबतक हम वास्तवमें भगवान्‌को अपना रक्षक नहीं मानते। भगवान्‌के शरण हो जानेके बाद किसीकी क्या मजाल है जो हमारी ओर आँख उठाकर भी देखे। मृत्युका भय ही सबसे बड़ा भय है; जो मृत्युसे निडर हो गया, वह जगत्‌से निडर हो जाता है। सबसे महत्त्वपूर्ण शिक्षा इस आख्यानसे हमें यह मिलती है कि सच्चे भगवद्भक्तका सङ्ग अमोघ होता है। वह जिस किसीको प्राप्त हो गया, उसके कल्याणकी मानो बीमा हो गयी। भक्त चाण्डालके सङ्गका ही यह प्रभाव था कि उस क्रूर ब्रह्मराक्षसका मन ही पलट गया। उसकी भगवद्भक्तिमें प्रवृत्ति हो गयी और वह उस चाण्डालके आधे मुहूर्तके जागरणका पुण्य पाकर कृतार्थ हो गया।

भक्तकी मृदुता

निर्भय होनेके साथ-साथ भक्तका हृदय बड़ा कोमल भी होता है। शरणागतके लिये वह बड़े-से-बड़ा त्याग करनेमें भी संकोच नहीं करता। अवश्य ही उसे कोई धोखा नहीं दे सकता और न डरा-धमकाकर ही कोई उससे काम निकाल सकता है। भक्त पिघलते हैं तो हमारी दीनतापर, हमारी सच्ची लगनपर ही। अपनी ईमानदारी, अपनी सच्ची लगनका विश्वास दिलाकर ही हम उनकी कृपा एवं सहायता प्राप्त कर सकते हैं।

ब्रह्मपुराणका उपसंहार

इसके अनन्तर नैमित्तिक, प्राकृत एवं आत्यन्तिक—तीन प्रकारके प्रलयका तथा आध्यात्मिक आदि त्रिविध तापोंका वर्णन करके भगवत्तत्त्वकी व्याख्या की गयी है। उसके पश्चात् योग और सांख्यका वर्णन करके कर्म तथा

ज्ञानका अन्तर बतलाते हुए परमात्मतत्त्वका निरूपण तथा अध्यात्मज्ञान और उसके साधनोंका वर्णन किया गया है और अन्तमें क्षर-अक्षर तत्त्वोंका विवेचन करके ग्रन्थका उपसंहार किया गया है। इस प्रकार मार्कण्डेय-पुराणकी भाँति ब्रह्मपुराणमें भी बड़े ही अमूल्य उपदेशोंका संग्रह है। सबको इन उपदेशोंसे लाभ उठाना चाहिये।

स्त्रियोंके लिये कल्याणके कुछ घरेलू प्रयोग

(एक उपदेशप्रद दृष्टान्त)

किसी संयुक्त परिवारमें दो स्त्री-पुरुष, उनके पाँच लड़के और दो लड़कियाँ थीं। लड़कोंका विवाह हो चुका था। उनमेंसे चारके बाल-बच्चे भी थे। लड़कियाँ दोनों कारी थीं। सबसे छोटे लड़केका ब्याह कुछ ही दिन पहले हुआ था। उसकी स्त्री अभी मैकेमें ही थी। इस प्रकार दोनों लड़कियोंको मिलाकर घरमें कुल सात स्त्रियाँ थीं। वे चाहतीं तो सब मिलकर घरका काम-काज अच्छी तरह कर सकतीं थीं; परन्तु उनकी आपसमें बनती न थी। वे एक दूसरीसे जला करती थीं और घरके काम-काजसे जी चुराती थीं। उनमेंसे प्रत्येक यही चाहती कि उसे कम-से-कम काम और अधिक-से-अधिक आराम मिले। आये दिन उनमें तू-तू, मैं-मैं हो जाया करती थी; घरमें अशान्ति और कलहका साम्राज्य था। इसी परिस्थितिमें सबसे छोटे लड़केकी स्त्री भी अपने मैकेसे आ गयी। वह उत्तम घरानेकी लड़की थी। उसे बचपनसे ही बड़ी अच्छी शिक्षा मिली थी। वह अपनेको उस क्षुब्ध वातावरणमें पाकर घबरा उठी। अपनी सास और जिठानियोंको आपसमें लड़ते-झगड़ते देख वह एक दिन रो पड़ी और अत्यन्त आर्त होकर मन-ही-मन भगवान्‌से प्रार्थना करने लगी—'प्रभो ! क्या यही सब देखने-सुननेके लिये मुझे आपने इस घरमें भेजा है ? यहाँ तो मैं एक दिन भी न रह सकूँगी। मुझे रात-दिनका झगड़ा अच्छा नहीं लगता। न जाने मैंने पिछले जन्मोंमें ऐसे कौन-से दुष्कर्म किये हैं, जिनके कारण मेरा इस घरमें ब्याह हुआ है ?' रोते-रोते उसकी आँख लग गयी। उसे स्पष्ट सुनायी दिया मानो उसे कोई सान्त्वनापूर्ण शब्दोंमें कह रहा है—'बेटी ! घबरा मत, इस घरका सुधार करनेके लिये ही तुझे यहाँ भेजा गया है। तुझ-जैसी लड़कीकी यहाँ आवश्यकता थी।'

इन शब्दोंको सुनकर छोटी बहूको बड़ी सान्त्वना मिली। उसकी सारी घबराहट जाती रही। उसने मन-ही-मन अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया। उसने कलहका मूल जानना चाहा। उसे मालूम हुआ कि उसकी सास और जिठानियों तथा ननदोंने आपसमें घरका काम बाँट लिया है। सास और ननदें ऊपरका काम करती थीं और बहुएँ पारी-पारीसे भोजन बनातीं। और-और कामोंके लिये भी पारी बाँध ली गयी थी; परन्तु यदि उनमेंसे दैवात् कोई बीमार हो जाती तो दूसरी बहुएँ उसके बदलेका काम करनेमें आनाकानी करतीं। वे उसपर बहानेबाजीका आरोप करतीं और अनेक प्रकारके आक्षेप करतीं। लड़ाईका दूसरा कारण यह होता कि जब कभी घरमें बाहरसे कोई खाने-पीनेकी चीज आती तो सब-की-सब यह चाहतीं कि अच्छी-से-अच्छी चीज अधिक-से-अधिक मात्रामें मुझे मिले। बस, इसीपर झगड़ा शुरू हो जाता और आपसमें गाली-गलौजतककी नौबत आ जाती। कभी-कभी मामूली बातोंको लेकर बखेड़ा खड़ा कर लिया जाता। यदि कभी एक भाईका लड़का दूसरे भाईके लड़केसे लड़ पड़ा तो इसीपर दोनोंकी माताएँ एक दूसरीको खूब खोटी-खरी सुनातीं। इन सब बातोंको देखकर छोटी बहूको बड़ा दुःख हुआ। जिस दिन उसने भगवान्‌का आदेश सुना, उसी दिनसे वह झगड़ा मिटानेका उपाय सोचने लगी। उसने सोचा कि भगवान्‌ने इसी बहाने उसे सेवाका बड़ा ही सुन्दर अवसर प्रदान किया है। वह एक दिन चुपकेसे अपनी सबसे बड़ी जिठानीके पास गयी। उस दिन उसकी सबेरे रसोई बनानेकी पारी थी। उसने जिठानीसे कहा—'जिठानीजी ! मैं आप सबसे छोटी हूँ। मेरे रहते आप रसोई बनायें—यह उचित नहीं मालूम होता। फिर आपको तो बाल-बच्चोंकी भी सँभाल करनी पड़ती है। मेरे जिम्मे और कोई काम है नहीं। इसलिये बड़ा अच्छा हो यदि आप अपनी रसोई बनानेकी पारी मुझे दे दें। मैं आपका बड़ा उपकार मानूँगी।' जिठानी पहले तो बड़ी देरतक आनाकानी करती रही। वह बोली—'बहू ! अभी तो तुम्हारे खाने-पहननेके दिन हैं। जब कुछ सयानी हो

जाओ, तब चूल्हा फूँकनेके काममें पड़ना। अभी कुछ दिन आराम कर लो, गृहस्थीका सुख भोग लो। आखिर तो यह सब करना ही है।' छोटी बहूने कहा—'जिठानीजी ! मैं आपके पैरों पड़ती हूँ, मुझे इस तरह निराश न करो। यही दिन तो मेरे काम करनेके हैं। अभीसे यदि मुझे आपलोग आरामतलब बना देंगी तो आगे जाकर मैं किसी कामकी न रह जाऊँगी। अवश्य ही मुझसे कोई बड़ा अपराध हो गया है, जिसके कारण मुझे आप अपने अधिकारसे वञ्चित कर रही हैं।' यह कहकर वह रोने लगी। अब तो जिठानी और अधिक उसकी बातको न टाल सकी। उसने अपनी पारी उसे दे दी। इस प्रकार क्रमशः उसने सभी जिठानियोंसे अनुनय-विनय करके उन सबकी पारी ले ली। यह काम अपने जिम्मे लेकर वह इतनी प्रसन्न हुई मानो उसे कोई निधि मिल गयी हो। वह प्रतिदिन सबेरे बड़े चावसे सबके लिये रसोई बनाती और सबको खिला-पिलाकर अन्तमें स्वयं भोजन करती। उसे ऐसा करनेमें तनिक भी थकान नहीं मालूम होती, बल्कि उसे इसमें बड़ा सुख मिलता। वह दिनोंदिन दूने उत्साहसे इस कामको करने लगी। वह रसोई भी बहुत अच्छी बनाती और फुर्तीसे बनाती। बात-की-बातमें बहुत-सी सामग्री तैयार कर लेती। यदि कभी कोई मेहमान भी आ जाते तो वह उकताती न थी। उन्हें भी बड़े प्रेमसे भोजन कराती; क्योंकि वह इसमें अपना लाभ समझती थी। उसकी इस अद्भुत लगन एवं सेवाभावको देखकर सभी कोई उसकी प्रशंसा करने लगे। एक दिन उसकी सास उसके पास आयी और बोली—'बेटी ! तूने यह क्या किया ? सबकी पारी अपने जिम्मे क्यों ले ली ?' उसने बड़ी नम्रतासे उत्तर दिया—'माताजी ! मेरे माता-पिताने मुझे यही शिक्षा दी है कि यह शरीर तो एक दिन मिट्टीमें मिल जानेवाला है। इसे अधिक-से-अधिक दूसरोंकी सेवामें लगाना चाहिये। यही इसका सबसे अच्छा उपयोग है। सेवा ही सबसे बड़ा धन है। अतः आपसे भी मेरी यही प्रार्थना है कि आप मुझे इस कामके लिये बराबर उत्साह दिलाती रहें।' उसका यह उत्तर सुनकर सास चकित हो

गयी। उसने सोचा कि यह तो कोई देवी है, किसी मानुषीका ऐसा सुन्दर भाव हो ही नहीं सकता।

दूसरे दिन ससुरजी बहुओंको देनेके लिये बहुत-सी साड़ियाँ लाये। उन्होंने प्रत्येक बहूको वर्षभरके लिये बारह-बारह साड़ियाँ दीं। छोटी बहू अपने हिस्सेकी साड़ियोंमेंसे दो साड़ियाँ लेकर अपनी सबसे बड़ी जिठानीके पास गयी और विनयपूर्वक बोली—'जिठानीजी ! मुझे यहाँ आते समय पिताजीने बहुत-सी साड़ियाँ दी थीं। मेरा उनसे अच्छी तरह काम चल सकता है। आप मुझपर दया करके ये दो साड़ियाँ अपने लिये रख लीजिये। मुझे इससे बड़ा सुख मिलेगा और मैं आपका बड़ा अहसान मानूँगी।' जिठानीने बहुत आनाकानी की, परन्तु उसका अत्यधिक आग्रह देखकर वह उसे अस्वीकार न कर सकी। इसी प्रकार आग्रह करके उसने दो-दो साड़ियाँ अपनी अन्य जिठानियोंको तथा दो अपनी सासको दीं और एक-एक साड़ी अपनी ननदोंको दे दीं। उसके इस औदार्यपूर्ण व्यवहारकी भी सबके मनपर गहरी छाप पड़ी। सासके पूछनेपर उसने कहा—'माताजी ! मैं इस कार्यमें भी आपकी मदद एवं प्रोत्साहन चाहती हूँ। शरीरकी भाँति ये वस्त्र आदि भी क्षणभङ्गुर हैं। इनका संग्रह आत्मकल्याणमें बाधक है। जीते-जी मोह एवं आसक्ति आदिके कारण इनमें फँसावट हो जाती है और मरते समय भी यदि इनमें मन अटका रहा तो प्रेत आदि योनियोंमें भटकना पड़ता है। सेवाके काममें लगाना ही इन सबका सर्वोत्तम उपयोग है। नहीं तो एक दिन ये यों ही नष्ट हो जायँगी।' सास उसका यह उत्तर पाकर बहुत प्रसन्न हुई और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगी। इधर घरमें पैसा भी बढ़ गया। ससुरजीने प्रत्येक बहूको छः-छः गहने तैयार कराके दिये। छोटी बहूने अपने हिस्सेके गहनोंको भी अपनी चारों जिठानियों और ननदोंमें बाँट दिया और अपने लिये उसने एक भी न रखा। पूछनेपर उसने यही कहा कि 'मेरे पास अपने पिताजीके दिये हुए बहुत-से गहने पड़े हैं। मेरे लिये उतने ही पर्याप्त हैं।' इस प्रकार उसने अपने

साधु व्यवहार एवं उदारतासे सभीके हृदयमें स्थान कर लिया। सभी उससे अत्यधिक सन्तुष्ट थे।

फिर एक दिन मौका देखकर उसने अपनी बड़ी जिठानीसे सायंकालकी रसोई बनानेकी भी आज्ञा माँगी। उसने कहा—'मेरे रहते आप रसोई बनानेका कष्ट करें, यह मेरे लिये बड़ी ही लज्जाकी बात है।' वह इस प्रकार कह ही रही थी कि उसकी सास वहाँ आ पहुँची। वह बड़ी उत्सुकतासे अपनी बड़ी बहूसे पूछने लगी—'यह किस बातके लिये आग्रह कर रही है?' जब उसे मालूम हुआ कि छोटी बहू सायंकालकी रसोई भी अपने ही हिस्सेमें कर लेना चाहती है, तब तो वह हँसकर बोली—'तुमलोग अपनी इस छोटी देवरानीसे सावधान रहना। यह तुमलोगोंसे वास्तविक लाभकी वस्तु ठग लेना चाहती है।' बड़ी बहू सासके अभिप्रायको न समझकर बोल उठी—'सासजी! आप यह क्या कह रही हैं? आपकी यह छोटी बहू तो बड़ी ही साध्वी है, सब प्रकार प्रशंसाके योग्य है। इसके सम्बन्धमें आप ऐसी बात कैसे कह रही हैं?' सासने कहा—'तुम समझी नहीं। यह हमलोगोंकी सेवा करके—हमें गहने-कपड़े तथा शारीरिक आराम आदि तुच्छ वस्तुएँ देकर बदलेमें तप आदि हमारी आध्यात्मिक कमाई—जो आत्मोद्धारमें सहायक है, हमसे छीन रही है। इससे बढ़कर ठगई और क्या होगी? इसने मुझे एक दिन बताया था कि दूसरोंकी सेवा करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होकर आत्मकल्याणमें समर्थ हो जाता है। इसने यह भी कहा था कि शुद्ध भावसे रसोईके रूपमें घरवालोंकी सेवा करनेसे एक ही सालमें कल्याण हो जायगा। इसलिये बहू! सायंकालकी रसोईका काम तो मैं अपने जिम्मे लूँगी। मुझे भी तो आत्माका कल्याण करना है। मैं ही उससे वञ्चित क्यों रहूँ?' सासकी यह बात सुनकर सबकी आँखें खुल गयीं। फिर तो सबको अपने-अपने कल्याणकी फिक्र पड़ गयी। कहाँ तो सब-की-सब कामसे जी चुराती थीं और छोटी बहूके एक समयकी रसोईका भार अपने सिरपर ले लेनेसे एक प्रकारके सुख एवं सुविधाका

अनुभव करती थीं; इसके विपरीत अब सबने अपनी-अपनी सबेरेकी रसोई बनानेकी पारी छोटी बहूसे वापस ले ली। जहाँ कामको लेकर कुछ ही दिन पहले सबमें झगड़ा होता था, अब सब-की-सब बड़े उत्साह एवं दिलचस्पीके साथ अपने-अपने हिस्सेका काम करने लगीं। छोटी बहूका उपाय काम कर गया।

जब छोटी बहूने देखा कि ये लोग कोई भी अब रसोईका काम मुझे नहीं सौपेंगी, तब उसने सेवाका दूसरा ढंग सोचा। उसने विचार किया कि घरमें रोज आठ-दस सेर आटेकी खपत है, वह सारा-का-सारा बाजारसे खरीदा जाता है। इससे तो अच्छा है कि मैं बड़े सबेरे उठकर स्वयं गेहूँ पीस लिया करूँ। इसमें कई लाभ हैं। जो आटा बाजारसे आता है, वह प्रायः पुराने घुने हुए गेहुँओंका होता है। उसमें मिट्टी मिली हुई रहती है। फिर कलकी चक्कियोंमें जो आटा पिसता है, उसका सार मारा जाता है। वह स्वास्थ्यके लिये हानिकारक होता है। मेरी जिठानियोंने रसोईका काम तो मुझसे वापस ले लिया। अब आत्मकल्याणके लिये मुझे यही काम करना चाहिये। उसने तुरंत यह प्रस्ताव अपने पतिके सामने पेश कर दिया। तुरंत गेहूँकी व्यवस्था हो गयी। बाजारसे आटा खरीदना बंद कर दिया गया। छोटी बहूने दिनमें गेहूँ साफ करके रख दिये और दूसरे दिन सबेरे ही मुँह-हाथ धोकर वह गेहूँ पीसनेके काममें जुट गयी। शरीर स्वस्थ एवं सबल था और मन उत्साहसे भरा था। काम करनेका अभ्यास था। बात-की-बातमें उसने आठ-दस सेर गेहूँ पीसकर रख दिये। सासको जब इस बातका पता लगा तो वह दौड़ी हुई छोटी बहूके पास आयी और बोली—'बहू! यह आत्मकल्याणका कोई नया तरीका ढूँढ़ निकाला है क्या?' बहूने गद्‌गद स्वरमें कहा—'माताजी! जिठानियोंने रसोई बनानेका काम तो मुझसे वापस ले लिया। इसलिये मुझे आत्मकल्याणका यह दूसरा मार्ग ढूँढ़ना पड़ा। इसमें शारीरिक श्रम अधिक है। इसलिये जहाँ आध्यात्मिक लाभके लिये रसोईका काम करनेसे सालभरमें

आत्माका कल्याण होता, वहाँ आटा पीसनेसे छः ही महीनोंमें काम बन जायगा। फिर इसमें दुहरा लाभ है। आत्माका कल्याण तो होता ही है, साथ-ही-साथ शारीरिक व्यायाम भी हो जाता है, जिससे शरीरमें फुर्ती और बल आता है तथा शरीर नीरोग रहता है। इससे गर्भवती स्त्रियोंको प्रसव भी जल्दी और सुखपूर्वक होता है। घरवालोंको शुद्ध आटा मिलता है, जिससे उनके स्वास्थ्य और मन दोनोंपर अच्छा प्रभाव पड़ता है। इन सब कारणोंसे यह काम मेरे लिये अत्यन्त श्रेयस्कर है। आशा है, आप मेरे इस काममें मेरी सहायता करेंगी।' अब तो सास अपनी छोटी बहूको गुरुवत् मानने लगी। उसकी एक-एक बात उसको सारगर्भित प्रतीत होने लगी। वह उसके प्रत्येक कार्यको गौरवकी दृष्टिसे देखने लगी और स्वयं भी उसीका अनुकरण करनेकी चेष्टा करने लगी। जहाँ छोटी बहूने पहले दिन सबेरे छः बजे आटा पीसनेका कार्य आरम्भ किया था, वहाँ यह दूसरे दिन पाँच ही बजे उस काममें जुट गयी। उसकी देखा-देखी तीसरे दिन उसकी दूसरी बहुओंने चार ही बजे उस कामको शुरू कर दिया। इस प्रकार पहले जहाँ वे सब-की-सब कामसे जी चुराती थीं। अब उन सबमें काम करनेकी एक प्रकार होड़-सी होने लगी। सभी चाहती थीं कि अधिक-से-अधिक काम मुझे करनेको मिले; क्योंकि सबको उसमें आत्मकल्याणके दर्शन होते थे। छोटी बहूकी यह दूसरी विजय थी।

अब छोटी बहूने कमरे साफ करने तथा कुएँसे पानी खींचकर लानेका काम अपने जिम्मे ले लिया। सबेरे नौकर झाड़ू लगाने तथा पानी भरने आता, तो उससे पहले ही यह सारा काम स्वयं कर लेती। सासने उससे फिर पूछा—'बेटी ! इस कामके करनेमें तुम्हारा क्या अभिप्राय है ?' छोटी बहूने बड़े ही मधुर स्वरोंमें कहा—'माताजी ! आपको इन सब बातोंका भेद बतला देनेसे सेवासे वञ्चित होना पड़ता है। इसलिये अब मैं इसका रहस्य आपको नहीं बतलाना चाहती। इस अविनयके लिये आप मुझे क्षमा करें।' सासने

कहा—'बेटी ! अब मैं तेरे कार्यमें बाधा नहीं डालूँगी। तू मुझे इसका आध्यात्मिक रहस्य समझा दे।' बहूने कहा—'सासजी ! जहाँ रसोईका काम करनेसे सालभरमें और आटा पीसनेका काम करनेसे छः महीनोंमें आत्म-कल्याण होता, वहाँ पानी भरनेकी सेवासे तीन ही महीनोंमें काम बन जायगा; क्योंकि यह काम उन सबकी अपेक्षा अधिक कठिन है। इसमें श्रम एवं कष्ट अधिक है तथा जानकी भी जोखिम है।' फिर क्या था, सास भी उसके इस काममें हाथ बँटाने लगी। दोनोंका उसमें साझा हो गया। दूसरी बहुओंने यह देखकर साससे कहा—'आपकी अवस्था अब पानी भरने लायक नहीं है। इसलिये यह काम आपको नहीं करना चाहिये।' इसपर सासने उन्हें उत्तर दिया—'क्या मुझे आत्म-कल्याण नहीं चाहिये ? मैं वृद्धा हूँ, इसलिये मुझे तो जल्दी-से-जल्दी आत्माका कल्याण कर लेना चाहिये।' फिर क्या था, दूसरी बहुएँ भी इस काममें शामिल हो गयीं। अब छोटी बहूने बरतन माँजनेका काम अपने जिम्मे लिया। सासने इसपर आपत्ति की। वह बोली—'इससे तुम्हारे कपड़े खराब होंगे और आभूषण घिस जायँगे। इस प्रकार महीनेमें जहाँ तुम नौकरकी मजदूरीके पाँच रुपये बचाओगी, वहाँ उसके बदलेमें तुम्हारा दस रुपयोंका नुकसान हो जायगा।' इसपर बहूने कहा—'माना कि ऐसा करनेसे आर्थिक लाभकी अपेक्षा हानि ही अधिक होगी; किन्तु मेरे कपड़े चाहे मैले हो जायँ, मेरा अन्तःकरण तो इससे बहुत जल्दी शुद्ध होगा। बात यह है कि जो काम जितना कठिन और लौकिक दृष्टिसे जितना नीचा होता है, आध्यात्मिक दृष्टिसे वह उतना ही ऊँचा और कल्याणकारक होता है। बरतन माँजनेसे मुझे विश्वास है कि दो ही महीनोंमें मेरा कल्याण हो जायगा। और यदि कभी भगवान् ऐसा संयोग भेज दें, जब कि किसी रोगीकी टट्टी-पेशाब उठाना पड़े, तब तो एक ही महीनेमें कल्याण निश्चित है। अवश्य ही भाव हमारा ऊँचे-से-ऊँचा—पूर्ण निष्कामताका होना चाहिये।'

सासकी तो छोटी बहूके वाक्योंमें अब वेदवाक्योंके समान श्रद्धा हो गयी थी। वह भी बरतन माँजनेके काममें उसे सहयोग देने लगी। अन्य बहुओंने उसे मना किया। उसने कहा—'अपने लड़कोंके बर्तन तो मैं अवश्य ही माँज सकती हूँ। फिर वृद्धावस्थाके कारण मेरा आत्मकल्याणके साधनमें सबसे अधिक अधिकार है। इसलिये इस विषयमें तुम्हारा आग्रह नहीं माना जा सकता।' फिर तो सब-की-सब बहुएँ उसी काममें जुट गयीं। सब काम बड़े उत्साहसे होने लगे। काम-काजकी जो पारी बाँधी गयी थी, वह टूट गयी। जो मौका पाती, वही आगे-से-आगे काम करनेको तैयार रहती। सबमें परस्पर प्रेम और सद्भावकी स्थापना हो गयी। जिस घरमें कलह और अशान्तिका एकच्छत्र साम्राज्य था, वही अब सुख-शान्तिका निकेतन हो गया। जो लोग यहाँकी स्त्रियोंको लड़ते-झगड़ते देखकर हँसते थे, वे ही उनका आदर्श व्यवहार देखकर आश्चर्य करने लगे। शहरके लोग दर्शकरूपसे उन लोगोंका व्यवहार देखनेके लिये आने लगे। स्त्रियोंके इस आदर्श व्यवहारका पुरुषोंपर भी कम प्रभाव नहीं पड़ा। इनकी देखा-देखी वे सब भी आलसी हो चले थे। अब इनका आदर्श व्यवहार देखकर वे सब भी कर्तव्यपरायण हो गये। जहाँ पहले दूकानका काम प्रायः चढ़ा रहता था, वहाँ अब कामकी अपेक्षा काम करनेवाले अधिक हो गये। जहाँ उनमें पहले कामसे जी चुरानेके कारण झगड़ा होता था, वहाँ अब वे सब-के-सब एक दूसरेका काम छीनकर करने लगे। जहाँ पहली लड़ाई नरकोंमें ले जानेवाली थी, वहाँ यह दूसरी लड़ाई कल्याण करनेवाली थी। कहना न होगा कि यह सब परिवर्तन छोटी बहूके सद्भाव, सद्विचार और सच्चेष्टाओंका सत्फल था। जिस प्रकार एक मछली सारे तालाबको निर्मल कर देती है, उसी प्रकार एक ही महान् एवं पवित्र आत्मा घरभरका ही नहीं, मुहल्ले, गाँव और नगरभरका सुधार कर देती है। सङ्गकी ऐसी ही महिमा है। सभी माता-बहिनोंको इस आख्यायिकासे शिक्षा लेकर आत्माके कल्याणके लिये निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवाका व्रत ले लेना

चाहिये। ऐसी सेवा बहुत शीघ्र मुक्तिका कारण बन जाती है—

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'

(गीता २।४०)

श्रीमद्भगवद्गीतामें ऐसे अनेकों वाक्य मिलते हैं, जिनसे इस बातकी पुष्टि होती है। श्रीभगवान् कहते हैं—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।

(५।१२)

'कर्मयोगी कर्मोंके फलको परमेश्वरके अर्पण करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है।'

असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः।

(३।१९)

'आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(१८।५६)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

अत्याचारका प्रतीकार

साम्प्रदायिक दंगोंके विषयमें पाठकोंको चेतावनी दी जाती है कि इनसे सर्वथा सजग रहना चाहिये। ये दंगे कोई नयी बात नहीं हैं। सत्ययुगमें देवासुरसंग्राम, त्रेतामें श्रीराम-रावण-युद्ध और द्वापरमें कौरव-पाण्डवोंका युद्ध तो इनसे भी भयङ्कररूपमें हुए थे; किन्तु अत्याचार करनेवालोंकी एक बार विजय होकर भी अन्तमें पराजय ही हुई है। इसलिये किसी सम्प्रदायवालेको किसीपर भी कभी अत्याचार नहीं करना चाहिये। किसीके घरमें आग लगाना, जगह- जमीन-मकान हड़पना, धन-सम्पत्ति लूटना, विष देना, निरीह निःशस्त्र व्यक्तिको मार डालना, कन्याओं, बालकों एवं स्त्रियोंका अपहरण करना, किसीको धर्म-परिवर्तनके लिये बाध्य करना, किसीके धर्मको भ्रष्ट करना, किसी स्त्रीपर बलात्कार करना, कोमल बच्चे-बच्चियोंको जलती आगमें झोंक देना अथवा उनको शस्त्रसे काट डालना आदि सब अत्याचार हैं! उपर्युक्त अत्याचार करनेवालेको ही आततायी कहते हैं। ऐसे आततायियोंको बिना विचारे ही मृत्युदण्डतक देनेके लिये शास्त्र कहते हैं—

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥

(मनु० ८।३५०-५१)

'अपना अनिष्ट करनेके लिये आते हुए आततायीको बिना विचारे ही मार डालना चाहिये। आततायीके मारनेसे मारनेवालेको कुछ भी दोष नहीं होता।'

इसमें सरकारी कानूनकी भी कोई बाधा नहीं है; क्योंकि अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले अत्याचारियोंको मनुष्य अन्य किसी उपायसे न रोक सके

तो अन्तमें अपनी इज्जत, धर्म और प्राणोंकी रक्षाके लिये उनको मार डालना भी दोष नहीं है। स्त्रियाँ भी अपने ऊपर अत्याचार और बलात्कार करनेवाले अत्याचारीको अपनी इज्जत, धर्म और प्राणोंकी रक्षाके लिये प्राण-वियोग-तकका दण्ड दे सकती हैं।

पाठकोंसे प्रार्थना है कि अपनी ओरसे कभी किसी निर्दोष व्यक्तिपर किंचिन्मात्र भी हमला या अत्याचार नहीं करना चाहिये; किंतु आक्रमणकारी अत्याचारियोंका अत्याचार रोकनेके लिये यदि उसका उचित प्रतीकार किया जाय तो उसमें कोई दोष नहीं है। ऐसा प्रतीकार होना चाहिये अत्याचारको मिटानेके लिये, द्वेषबुद्धिसे नहीं; बल्कि अत्याचारीका परिणाममें जिस प्रकार हित हो; उसको खयालमें रखकर प्रतीकार करना चाहिये। भगवान्‌ने जो कहा है **'विनाशाय च दुष्कृताम्'** (गीता ४।८), उसका अभिप्राय भी यही है। अत्याचारका निवारण करना अत्याचारीके तथा संसारके, सभीके लिये हितकर है। अत्याचारको मिटाना चाहिये, अत्याचारीको नहीं; किंतु बिना अत्याचारीको मिटाये अत्याचार न मिट सकता हो, तो ऐसी हालतमें अत्याचारीको भी मिटाना दोषयुक्त नहीं समझा जाता। जब किसी रोगीका कोई अङ्ग सड़ जाता है और उसपर अन्य उपाय काम नहीं देता तो डाक्टर सारे शरीरपर जोखिम आते देखकर उस दोषी अङ्गको काट डालते हैं; इसी प्रकार बिना अत्याचारीको मारे यदि अत्याचार न मिटता हो तो इस हालतमें जन-समुदायके हित एवं प्राणरक्षाके लिये अत्याचारीको मारा जा सकता है, चाहे वह किसी भी सम्प्रदायका हो। यह मनुष्यमात्रका धर्म है।

द्वेषभाव न रखते हुए अत्याचारीका प्रतीकार करना चाहिये; किन्तु यह कठिन बात है। क्योंकि इसमें कहीं-कहीं मन धोखा भी दे देता है। मनुष्य समझता है कि जैसे माता-पिता अपने बालकोंको तथा गुरु अपने शिष्योंको उनके सुधारके लिये ताड़ना देते हैं, इसी प्रकार मैं भी अत्याचारीको जो दण्ड देता हूँ, वह उसके सुधारके लिये ही देता हूँ। किंतु इसमें हमें गम्भीरतापूर्वक

विचार करके देखना चाहिये कि कहीं इसमें हमारा छिपा हुआ द्वेषभाव तो नहीं है। जिसका द्वेषभाव नहीं होगा, उसके हृदयमें घृणा, अशान्ति, चिन्ता, दुःख, शोक, उद्वेग, क्रोध, भय आदि विकार नहीं होंगे। बल्कि उसके हृदयमें शान्ति, समता, सन्तोष, सरलता, प्रसन्नता आदि गुण ही विद्यमान रहेंगे। अत्याचारको मिटानेके लिये गीतामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराज अर्जुनको शुद्ध भावसे युद्ध करनेकी आज्ञा देते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २।३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख समान समझकर, उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा; इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

इस भावको खयालमें रखकर यदि कोई आदमी सद्भावसे अत्याचारका प्रतीकार करे तो उसके लिये वैसा करना धर्मपालन है। इसलिये हमारी सबसे यह प्रार्थना है कि ऐसा भाव हृदयमें रखकर ही अत्याचारीसे मुकाबला करना चाहिये। इस प्रकार व्यवहार करनेवालेका ही इस लोक और परलोकमें हित होता है, इसीलिये इसे धर्म माना गया है। धर्मको खयालमें रखकर जो मनुष्य अत्याचारीके साथ व्यवहार करता है, उसके द्वारा बदलेमें अत्याचार कभी नहीं हो सकता।

अत्याचारीका स्वभाव परिवर्तन करनेके लिये दूसरा यह भी उपाय है कि अत्याचारीके साथ बिना द्वेषभावके पूर्ण असहयोग कर देना चाहिये अर्थात् उसे अपनी तरफसे धन-सम्पत्ति, व्यापार आदिकी किसी भी प्रकारकी किञ्चिन्मात्र भी कभी सहायता नहीं देनी चाहिये। कोई अत्याचारी चूड़ी, साड़ी, कपड़ा, गोटा-किनारी आदि बनानेवाला हो तो उससे वे चीजें न तो बनवानी चाहिये और न खरीदनी ही चाहिये। अथवा कोई अत्याचारी बादाम, पिस्ता, किशमिश आदि मेवा, फल, सब्जी, मिठाई, चाय वगैरह बेचनेवाला

हो तो उससे वे चीजें नहीं खरीदनी चाहिये। कोई अत्याचारी रँगाई-छपाईका काम करनेवाला हो तो उससे कपड़ा रँगाना-छपाना नहीं चाहिये और न किसी अत्याचारीसे कपड़ोंकी बुनाई, सिलाई, धुलाईका ही काम कराना चाहिये। अत्याचारीसे चित्रकारी, मकान बनवाने और किसी प्रकारके ठेके आदिका काम भी नहीं कराना चाहिये तथा न पत्थर, लकड़ी, तैल, घी, दूध, गल्ला, किराना, स्टेशनरी, मनिआरी आदि चीजें ही खरीदनी चाहिये एवं न अत्याचारीको कारखानोंमें अथवा व्यक्तिगत नौकरीपर ही भरती करना चाहिये। दलाली, आढ़त और व्यापार आदिका भी सम्बन्ध उनसे नहीं जोड़ना चाहिये तथा कोई अत्याचारी ताँगा-इक्का, रिक्शा, मोटर आदि सवारी चलानेवाला हो तो उसकी सवारीपर नहीं बैठना चाहिये। मतलब यह है कि जहाँतक हो सके, किसी प्रकारसे भी अत्याचारीको जरा भी न तो आर्थिक मदद देनी चाहिये और न उससे किसी प्रकारका सम्बन्ध ही रखना चाहिये। ऐसा करनेके लिये कानूनकी दृष्टिसे भी कोई हमें बाध्य नहीं कर सकता। इसपर भी यदि हम अत्याचारीके कामोंमें किसी प्रकारसे भी सहयोग देते हैं अथवा उसकी चीजें खरीदते हैं तो यह हमारा अन्याय, कायरता और अर्थपरायणता है। किन्तु ऐसा असहयोग भी राग-द्वेषसे रहित होकर शुद्ध-भावसे ही करना चाहिये। क्योंकि जो ईश्वरपर निर्भर होकर आपत्तिकालमें भी अपने धर्मका त्याग नहीं करता, वही मनुष्य प्रशंसाके योग्य है और वही उच्च कोटिके पुरुषोंकी पंक्तिमें गिना जाने योग्य है।

जो मनुष्य किसीपर अत्याचार नहीं करता और सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत एवं ईश्वरपर निर्भर रहता है, उसके हृदयमें धीरता, गम्भीरता, वीरता आदि भावोंकी जागृति रहती है, इससे वह सदा निर्भय होकर विचरण करता है। उसपर किसी भी अत्याचारीका अत्याचार करनेका कभी साहस ही नहीं होता। यदि अपने किसी पूर्वके संस्कारके कारण कोई अपनेपर अत्याचार कर भी ले तो उसको उसे अपने प्रारब्धका फल मानकर अत्याचारीसे अत्याचारके द्वारा

बदला नहीं लेना चाहिये। किंतु संसारके हितके लिये, अत्याचारको मिटानेके लिये शुद्धभावसे अत्याचारीका मुकाबला करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त हरेक भाईको कानूनको खयालमें रखकर व्यायाम तथा अस्त्र-शस्त्र आदिकी विद्याका आत्मरक्षाके लिये शुद्धभावसे अभ्यास करना चाहिये, पर दूसरोंको पीड़ा देनेके लिये नहीं। अत्याचारियोंके द्वारा पीड़ित जिस किसी भी जाति, धर्म, सम्प्रदायके आतुर नर-नारी हों, उनकी भेदभावसे रहित होकर तन, मन, धन, वस्त्र आदिसे सेवा करनेमें विशेष दिलचस्पी लेनी चाहिये। क्योंकि रोगीका इलाज करना, घायलकी मरहम-पट्टी करना, भयभीतको भयमुक्त करना, नंगेको वस्त्र देना, भूखोंको अन्न देना, बेकारोंकी जीविकाका प्रबन्ध कर देना, अनाथ, वृद्ध और अपाहिजको दान देना परम धर्म है। उपर्युक्त धर्मका निःस्वार्थभावसे पालन करनेपर मनुष्य परम शान्ति और परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

प्रत्येक भाईको यह ध्यान रखना चाहिये कि लोभसे, भयसे अथवा कामसे—किसी भी प्रकार अपने धर्मका त्याग न करे।

महाभारतमें कहा है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः॥
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

(स्वर्गा० ५। ६३)

अर्थात् 'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, लोभसे या जीवनरक्षाके लिये भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और जीवनका हेतु अनित्य है।'

इसलिये स्वधर्मका त्याग किसी भी हालतमें न करे; क्योंकि जहाँ धर्म, न्याय और सत्य हैं, वहीं विजय और वहीं कल्याण है।

सामयिक चेतावनी

बहुत गई थोरी रही, नारायन ! अब चेत।
काल चिरैया चुग रही निसिदिन आयू खेत॥
काल करै सो आज कर, आज करै सो अब।
पलमें परलै होयगी, बहुरि करैगो कब॥
कबिरा नौबत आपनी दिन दस लेहु बजाय॥
यह पुर पट्टन यह गली बहुरि न देखौ आय॥
चलती चाकी देख कै दिया कबीरा रोय।
दो पाटन बिच आय कै साबित बचा न कोय॥

दो बातन कूँ याद रख, जो चाहै कल्यान।
नारायन एक मौत कूँ, दूजे श्रीभगवान॥

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(९।३३)

'तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

यह मनुष्य-जीवन क्षणभङ्गुर और दुःखरूप है। आज जिसे हम भला-चंगा और मोटा-ताजा देखते हैं, कल ही हम उसके बारेमें सुनते हैं कि अचानक उसके हृदयकी गति बंद हो गयी और उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गयी। हम जीवनमें अनेक प्रकारके मनसूबे बाँधते हैं, जमीन-आसमानको एक करनेकी चेष्टा करते हैं; परन्तु मृत्युका निर्दय हाथ सहसा आकर हमारे मनके महलोंको ढहा देता है और हमारी सारी स्कीमें यों ही पड़ी रह जाती हैं।

जीवनकी अपेक्षा मृत्यु ही अधिक निश्चित है। हम कितने दिन जीयेंगे, यह कोई नहीं बता सकता; परन्तु हमारी मृत्यु निश्चित है। जो जन्मा है, वह मरेगा अवश्य। किसी कविने कहा है—

नौ द्वारे का पींजरा, तामें पंछी पौन।
रहनेको आचरज है, गए अचंभा कौन॥

श्वास आया-आया, न आया। इसका कौन भरोसा है। जरा-सा बुखार आया, न्यूमोनिया हो गया, चलते बने। जरा-सा फोड़ा हुआ, उसमें जहर पैदा हो गया और वह जहर सारे शरीरमें फैलकर हमारी मृत्युका कारण बन गया। बच्चोंसे लेकर बुड्ढोंतकका यही हाल है। बुड्ढे तो फिर भी रोगके आक्रमणको कुछ दिन सहते हुए देखे जाते हैं। आजकलके नौजवानोंकी तो यह हालत है कि दस दिन मियादी बुखार आया कि समाप्त। आये दिन ऐसी मौतें देखने और सुननेमें आती हैं, जिन्हें देख और सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं, दिल दहल उठता है। किसीका छः ही महीने पहले विवाह हुआ था, तो कोई अपने बुड्ढे माता-पिताका इकलौता लाल था, उनकी आँखोंका तारा था, उनके जीवनका एकमात्र सहारा था। फिर आजकल तो मृत्यु और भी सुलभ हो गयी है। कहीं बाढ़ आयी और गाँव-के-गाँव एक साथ बह गये। लोग सोये-के-सोये रह गये। एक भूकम्प आया और उससे नगर-का-नगर ध्वंस हो गया। शहरमें हैजा फैला, प्रतिदिन सैकड़ों आदमियोंका सफाया होने लगा। कभी रण-चण्डी भयानक रूप धारणकर लाखों मनुष्योंका संहार कर रही है तो कभी प्रतिदिन हजारों नर-नारी भूखकी ज्वालासे तड़प-तड़पकर मर रहे हैं! जिसपर हम इतना नाज करते हैं, इतना इतराते हैं, जिसके बलपर हम किसीको कुछ नहीं समझते, पीढ़ियोंका प्रबन्ध करते हैं, हमारे उस जीवनका यह हाल है। फिर भी हम चेतते नहीं, क्षणिक विषय-सुखोंके पीछे इस अमूल्य जीवनको, जिसे शास्त्रोंने देवदुर्लभ बताया है, व्यर्थ नष्ट कर रहे हैं। हमारा एक-एक श्वास इतना अमोल है कि उसे हम लाख रुपया देकर भी खरीद नहीं सकते।

ऐसी अमूल्य निधिको हम आलस्य-प्रमाद, मौज-शौक, ऐश-आराम और भोग-विलासमें गँवा रहे हैं। मानो हीरेको कौड़ियोंके मोल बेच रहे हैं। इससे बढ़कर हमारी मूर्खता क्या होगी।

यह जीवन केवल अनित्य और क्षणभङ्गुर ही नहीं, दुःखरूप भी है। हम जिधर दृष्टि दौड़ाते हैं, उधर हमें दुःख-ही-दुःख नजर आता है। बचपनसे लेकर मृत्युपर्यन्त दुःखका ही एकछत्र साम्राज्य है। जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिने हमें चारों ओरसे जकड़ रखा है। जन्ममें दुःख, मृत्युमें दुःख, जरामें दुःख और व्याधि तो दुःखरूप है ही। जन्मते ही, बल्कि यों कहिये कि माताके गर्भमें आते ही इस जीवको दुःख चारों ओरसे आ घेरते हैं। माताके उदरमें जबतक यह जीव रहता है, तबतक घोर कष्टका अनुभव करता रहता है। वह चारों ओर मांस-मज्जा, रुधिर-कफ और मल-मूत्र आदि दूषित एवं दुर्गन्धयुक्त पदार्थोंसे घिरा रहता है। हिल-डुल सकता नहीं। ऊपर टाँगें और नीचे सिर किये सिकुड़ा हुआ पड़ा रहता है। सुखपूर्वक साँस भी नहीं ले पाता। नाना प्रकारके कृमि और कीटाणु उसकी कोमल त्वचाको नोचते रहते हैं। माता यदि भूलसे कोई क्षारयुक्त अथवा दाहक पदार्थ खा लेती है तो उससे गर्भस्थ शिशुकी त्वचा जलने लगती है। वह चुपचाप इन सारे कष्टोंको सहता रहता है। उस समय उसकी कोई कुछ भी सहायता नहीं कर सकता। फिर उसे पूर्व-जन्मोंकी स्मृति जाग्रत् होकर अलग सताने लगती है। इस प्रकार वह अत्यन्त दुःखी होकर अपने गर्भजीवनको व्यतीत करता है। गर्भसे बाहर निकलते समय भी उसे घोर यन्त्रणा होती है, वह चेतनाशून्य हो जाता है। उस समय कई बालक तो उस कष्टको न सह सकनेके कारण प्राण त्याग देते हैं। मृत्युके समयका दुःख भी हम सब लोग बराबर देखते ही हैं। उस समय मनुष्यकी कैसी असहाय अवस्था हो जाती है ! उसके रोम-रोमसे नैराश्य टपकने लगता है। वह कैसे कष्टसे प्राण त्यागता है। जिन घर-जमीन, स्त्री-पुत्र, धन-दौलतको उसने बड़ी ममतासे पाला-पोसा था, अपने जीवनसे भी बढ़कर समझा था और

जिनकी रक्षाके लिये उसने नाना प्रकारके कष्ट सहे थे, लोक-परलोककी भी परवा नहीं की थी, जिनके पीछे उसने न जाने कितनोंका जी दुखाया था, कितनोंका हक मारा था, कितनोंसे वैर बाँधा था, कितनोंसे मुकदमेबाजीकी थी, उन्हें सहसा बाध्य होकर त्यागनेमें उसे कितने महान् कष्टका अनुभव होता है—इसे मरनेवाला ही जानता है। हम सबने अपने पूर्वजन्मोंमें इस कष्टका अनुभव किया है और इस जीवनका अन्त होनेपर हममेंसे अधिकांशको फिर करना होगा। बुढ़ापेके दुःख भी हमसे छिपे नहीं हैं। वृद्धावस्थामें मनुष्यकी सारी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, दृष्टि मन्द हो जाती है, कानोंसे ठीक तरह सुनायी नहीं देता, चमड़ी सिकुड़ जाती है, दाँत जवाब दे देते हैं, बिना सहारेके चलना कठिन हो जाता है, घरके लोग अनादर करने लगते हैं, बुद्धि भी सठिया जाती है और नाना प्रकारकी चिन्ताएँ आ घेरती हैं। व्याधिका तो किसी-न-किसी रूपमें थोड़ा-बहुत हम सभीको अनुभव है। हमारे शास्त्रकारोंने इस शरीरको व्याधियोंका घर ही बताया है—**'शरीरं व्याधिमन्दिरम्।'** भगवदवतारों और कारक पुरुषोंको छोड़कर प्रायः सभीको न्यूनाधिक रूपमें व्याधियोंका शिकार होना पड़ता है। बड़े-बड़े महात्माओं और लोकोपकारी व्यक्तियोंका भी व्याधियोंसे पिण्ड नहीं छूटता। स्वस्थ-से-स्वस्थ और बलवान्-से-बलवान् मनुष्यको भी इनके आगे सिर झुकाना पड़ता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवनमें चारों ओर दुःखका ही बोलबाला है। जिसे हम सुख कहते हैं, वह भी दुःख-मिश्रित, परिणाममें दुःखदायी और वास्तवमें दुःखरूप ही है।* वियोग

---

* महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।'

(२।१५)

(१) प्रत्येक सुखका परिणाम दुःखदायी होता है। (२) इसके अतिरिक्त प्रत्येक सुखमें तारतम्य तो होता ही है। ऐसी दशामें थोड़े सुखवालेको दूसरेका अधिक सुख देखकर स्वाभाविक ही ईर्ष्या होती है और ईर्ष्या दुःखरूप ही है। (३) इतना ही नहीं, जो

तो सबके साथ लगा ही हुआ है। जिस वस्तुके समागमसे हमें सुखकी अनुभूति होती है, वही वियोग होनेपर दुःखका कारण बन जाती है। स्त्री-पुत्र, धन-मान, पद-प्रतिष्ठा, ऐश-आराम—सबका यही हाल है। एक धनको ही ले लीजिये। धनके उपार्जनमें कष्ट होता है, उसकी रक्षा करनेमें कष्ट उठाना पड़ता है, उसके बढ़ानेमें भी कष्टोंका सामना करना पड़ता है, उसे अनिच्छापूर्वक त्यागनेमें—खर्च करनेमें भी कष्ट होता है और उसके नाश होनेमें—चले जानेमें तो कष्ट होता ही है। यदि राजा उसे छीन ले—दण्ड अथवा करके रूपमें ले ले, चोर चुरा ले जाय, अग्नि जला दे, पानी बहा ले जाय अथवा उसे सुरक्षित दशामें छोड़कर हमींको इस संसारसे विदा होना पड़े—प्रत्येक स्थितिमें हमें महान् दुःख होगा।

अब प्रश्न यह होता है कि इस दुःखसे बचनेका उपाय क्या है? शास्त्र कहते हैं कि स्वेच्छापूर्वक विषयोंके त्यागमें ही सुख है। भोग-बुद्धिसे विषयोंका संग्रह दुःखका मूल है। हमलोगोंने भ्रमसे विषयोंमें सुख मान रखा है। वास्तवमें जिसके पास जितना अधिक विषयोंका संग्रह है, वह उतना ही दुःखी है और जो जितना अपरिग्रही है, वह उतना ही सुखी है। धनकी तीन गतियाँ मानी गयी हैं—दान, भोग और नाश। हमारे शास्त्रोंने दानको ही सर्वोत्तम गति माना है, यही धनका सर्वश्रेष्ठ सत्य उपयोग है। धनकी रक्षाका भी सर्वोत्तम उपाय दान ही है। वही धन सुरक्षित है, जिसे हम दूसरोंकी सेवामें, भगवान्‌की सेवामें लगा देते हैं। धनका नाश एक-न-एक दिन अवश्यम्भावी है—चाहे उसे हम भोगोंके निमित्त खर्च करके नष्ट कर दें, चाहे उसे दूसरे हड़प जायँ,

---

सुख प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है, उसकी स्मृति बड़ी दुःखदायिनी होती है—उसे याद कर-करके मनुष्य बड़ा दुःखी हो जाता है। (४) फिर कोई भी सुख दुःखसे रहित नहीं होता, प्रत्येकमें दुःखका मिश्रण अवश्य होता है। (५) इसके सिवा सुखी मनुष्य भी सात्त्विक, राजस एवं तामस वृत्तियोंके संघर्षसे दुःखी रहता है। इन पाँच कारणोंसे विवेकी पुरुष सब कुछ दुःखमय ही देखते हैं।

सरकार करके रूपमें ले ले अथवा हम ही उसे छोड़कर संसारसे चल बसें। हर हालतमें हमारा उससे वियोग होगा ही। उसे अक्षय बनानेका—स्थायी बनानेका एकमात्र उपाय उसे भगवान्‌की सेवामें—जनता-जनार्दनकी सेवामें अथवा दरिद्र-नारायणकी सेवामें लगाना ही है। सच्ची बात तो यह है कि हमारा सारा धन भगवान्‌का है। लक्ष्मीदेवी—जो धनकी अधिष्ठात्री देवी हैं—उनकी अर्द्धाङ्गिनी हैं, चरण-सेविका हैं, उन्हें सबसे अधिक सुख भगवान्‌के चरण-प्रान्तमें ही मिलता है। इसीलिये वे भगवान्‌के चरणोंको छोड़कर अन्यत्र नहीं जाना चाहतीं, उन्हींसे सर्वदा लिपटी रहती हैं। ऐसी दशामें प्रत्येक लक्ष्मीपात्रका कर्तव्य है कि वह उन्हें माता समझकर भगवान्‌के चरणोंमें ही नियुक्त कर दे और उनके प्रसादरूपमें ही विषयोंका शरीर-निर्वाहमात्रकी दृष्टिसे सेवन करे। भगवान्‌की वस्तुका भगवान्‌की सेवामें विनियोग न करके जो उसे केवल अपने कामोपभोगमें लेता है, वह तो अपराधी है, दण्डका पात्र है। पञ्च महायज्ञका भी अभिप्राय यही है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(३।१३)

'यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। और जो पापीलोग अपना शरीर पोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं।' आगे चलकर ऐसे लोगोंको भगवान्‌ने अघायु—पापजीवी कहा है और उनका संसारमें जीना व्यर्थ बताया है—'**अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति**' (३।१६)। श्रुति भगवती भी कहती है—'**केवलाघी भवति केवलादी।**'

परन्तु यदि ऐसा न हो सके—हम सब कुछ भगवान्‌का न समझ सकें तो फिर कम-से-कम अपनी आयका—अपनी सम्पत्तिका षष्ठांश तो अवश्य ही भगवान्‌की सेवामें—धर्मकार्योंमें लगायें। यह हमारे ही किये हो सकता है।

धर्मको शास्त्रोंने पङ्गु बताया है—वह हमारे चलाये ही चल सकता है। राजाकी तरह वह हमसे बलपूर्वक कर वसूल नहीं करता। हमें चाहिये कि जो हम भोगोंके निमित्त धनको पानीकी तरह बहाते हैं, ब्याह-शादियोंमें तथा अन्य सामाजिक कार्योंमें अनाप-शनाप खर्च करते हैं, कीर्तिके लिये अथवा उपाधि आदिके रूपमें सरकारकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये बड़ी-बड़ी रकमें चंदेके रूपमें देते हैं तथा सरकारी अफसरोंको बड़ी-बड़ी पार्टियाँ देते हैं, ऐसा न करके अपनी आयका अथवा सम्पत्तिका कम-से-कम षष्ठांश लोकोपकारके कार्योंमें लगायें, अपने कारबारके कई विभागोंमेंसे एक विभागको अथवा एक ही विभाग हो तो उसके एक हिस्सेको लोकसेवक ट्रस्टके रूपमें परिवर्तित कर दें, ताकि उसकी सारी-की-सारी आय लोकोपकारके कार्योंमें खर्च की जा सके और उसपर हमारा निजी स्वत्व बिलकुल न रहे। कहना न होगा कि उपर्युक्त कार्योंके निमित्त धन व्यय करनेमें सरकार भी हमें प्रोत्साहन देती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि धार्मिक एवं लोकोपकारके कोषोंपर सरकारकी ओरसे 'इन्कम-टैक्स' आदि किसी प्रकारका कर नहीं लिया जाता। आजकल 'इन्कम-टैक्स' आदि करसे बचनेके लिये हमारे बहुत-से व्यापारी भाई झूठ-कपटका आश्रय लेते देखे जाते हैं। इस प्रकार अन्यायसे लाखों रुपयोंकी जो बचत की जाती है, वैसा न करके लोकोपकारार्थ ट्रस्ट बनाकर उस धनको लोकोपकारमें ही खर्च करें। अपने निजी कार्यमें कतई नहीं। इस प्रकार लोकोपकारके कार्योंमें जो कुछ व्यय किया जायगा, वह अक्षय हो जायगा। हम भोग-बुद्धिसे जो कुछ बटोरते हैं, वह तो हमारे मरनेके बाद यहीं पड़ा रह जायगा, उसमेंसे एक पाई भी हमारे साथ नहीं जा सकेगी, एक सूईपर भी हमारा अधिकार नहीं रह जायगा। किन्तु धर्मके लिये हम जो कुछ भी खर्च करेंगे, वह परलोकमें भी हमें प्राप्त होगा। यदि हम किसी फलकी कामनासे ऐसा करेंगे, तो मरनेके बाद हमें स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति होगी—जहाँके सुख यहाँके सुखोंकी अपेक्षा कई गुने अधिक हैं। और यदि भगवत्सेवाकी

भावनासे—भगवदर्थ अथवा भगवदर्पण-बुद्धिसे या निष्कामभावसे हम लोकोपकारी कार्योंमें धन-व्यय करेंगे तो वही हमारे कल्याणका परम साधन बन जायगा—हम जन्म-मृत्युके बन्धनसे सदाके लिये छूटकर भगवान्‌में विलीन हो जायँगे, अथवा भगवान्‌के परमधाममें चले जायँगे, जहाँ अक्षय सुखका निवास है और दुःखका लेश भी नहीं है। भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—'**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।**' (२।४०)। धर्मके निमित्त जो कुछ निष्कामभावसे व्यय किया जाता है, उसकी बीमा हो जाती है—उसे चोर चुरा नहीं सकते, डाकू लूट नहीं सकते, राजा छीन नहीं सकता और अन्यायी हड़प नहीं सकता। परन्तु हम अज्ञानी जीव चोरी, डाका, राजदण्ड, अग्नि आदिका उपद्रव—सब कुछ सह लेते हैं, पर स्वेच्छासे धर्मका दण्ड स्वीकार नहीं करते। किसीने कहा है—

अगिन पलीता राजदँड, चोर मूस धन खाय।
इतना तो दँड नर सहै, हरिदँड सहा न जाय॥

दानके लिये यों तो अनेकों मार्ग हैं; परन्तु इस समय सबसे अधिक आवश्यकता हमारे इस देशमें भूखोंको अन्न, वस्त्रहीनोंको वस्त्र तथा रोगियोंको औषध देनेकी, जिज्ञासुओं और विद्यार्थियोंको गीता-रामायण आदि सद्ग्रन्थोंके वितरणद्वारा सहायता करनेकी तथा चारा आदिके द्वारा गौओंकी रक्षा करनेकी है। आज देशके कई भागोंमें अन्नका बड़ा भारी कष्ट दिखायी दे रहा है। अन्नके बिना हाहाकार मचा हुआ है, प्रतिदिन हजारोंकी संख्यामें हमारे नेत्रोंके सामने हमारे ही-जैसे हमारे बहिन-भाई और बच्चे भूखके मारे बेमौत मर रहे हैं। कहीं सियार और कुत्ते उन्हें जीते-जी नोचते सुने जाते हैं और वे उनसे अपनी रक्षा नहीं कर पाते। भूखकी भयानक यन्त्रणासे बचनेके लिये लोग फाँसी लगाकर तथा रेलकी पटरियोंपर लेटकर प्राण देते देखे-सुने जाते हैं। माताएँ अपने बच्चोंको त्याग देती हैं। कई जगह लोग भूखसे पीड़ित होकर अपनी वयस्क कन्याओंको बेच रहे हैं। कलकत्ते आदि नगरोंमें लोग सड़कोंपर

पड़े कराहते नजर आते हैं। निर्बलताके कारण वे विशेष हिल-डुल भी नहीं सकते।* यह करुण दृश्य देखकर पत्थरका हृदय भी पसीज जाता है। हमारी माता और बहिनोंके पास लज्जा ढकनेके लिये वस्त्र भी नहीं है और भूखसे निर्बल नर-नारी नाना प्रकारके रोगोंके शिकार हो रहे हैं। इस समय हमारे धनी भाइयोंका सबसे बड़ा कर्तव्य है खुले हाथों अपने दुःखी गरीब भाइयोंकी सहायता करना, उन्हें मौतके मुँहसे बचाना, अन्नहीनोंके लिये अन्नकी, वस्त्रहीनोंके लिये वस्त्रकी, रोगियोंके लिये औषधकी तथा विद्यार्थियोंके लिये विद्याकी व्यवस्था करना तथा जो लोग दान न लेना चाहें उनके लिये सस्ते अनाजकी दूकानें खोलना।

गोजातिपर भी इस समय हमारे देशमें बड़ा संकट है। प्रतिदिन हजारोंकी संख्यामें हमारे देशकी दूध देनेवाली जवान गायें, बछिया तथा बैल हमारे ही सामने कटते हैं और हम अपनी आँखों यह सब देखकर भी इसका कुछ भी प्रतिकार नहीं कर रहे हैं। बहुत-सी गायें तो चारे आदिके अभावसे मर रही हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम उनके लिये चारे आदिकी समुचित व्यवस्था करें और इस प्रकार उनके बढ़ते हुए ह्रासको रोकनेकी चेष्टा करें। गो-धन हमारा सबसे बड़ा धन है—उससे हमारा धर्म-कर्म सब कुछ चलता है तथा हमारे शरीरोंका पोषण होता है। गाय और बैलोंके बिना हमारा जीवन ही कठिन हो जायगा। ऐसी दशामें प्रत्येक भारतवासीका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह गौओंकी रक्षाके लिये तन, मन और धनसे भी कटिबद्ध हो जाय। प्रत्येक भारतीय गृहस्थको चाहिये कि वह कष्ट सहकर भी कम-से-कम एक गौ अपने घरमें अवश्य रखे। जिस समय भारतमें गौओंकी अधिकता थी, उस समय हमारा यह भारतवर्ष सुख-समृद्धिसे पूर्ण था। यहाँ दूध-दहीकी नदियाँ-सी बहती थीं। जिस मक्खन और घीके आज हमलोगोंको दर्शन दुर्लभ हो रहे हैं, उसे भगवान्

---

* यह लेख बंगालके घोर दुर्भिक्षके समय लिखा गया था।

श्रीकृष्ण तो बाल्यावस्थामें बंदरोंको भी लुटाते थे। अकेले नन्दबाबाके यहाँ नौ लाख गायें थीं और एक-एक राजा लाख-लाख गायोंका दान कर देते थे। आज हमारे गो-धनका जो भयंकर ह्रास दृष्टिगोचर हो रहा है, वह हमारे ही प्रमादका दुष्परिणाम है। हमें चाहिये कि अब भी चेतें और इस लुटते हुए धनको बचानेकी चेष्टा करें।

प्राचीन समयमें लोग गो-रक्षाके लिये बड़े-बड़े कष्ट सहनेके लिये तैयार रहते थे, गौके प्राण बचानेके लिये अपने प्राणोंकी भी आहुति देनेमें नहीं हिचकते थे। महाराज दिलीपकी गो-भक्ति और अर्जुनके गो-रक्षा-व्रत इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। राजा दिलीप चक्रवर्ती सम्राट् थे। गुरु वसिष्ठकी आज्ञासे उन्होंने उनकी गौ नन्दिनीकी सेवाका भार अपने ऊपर ले लिया। इतने बड़े सम्राट् होनेपर भी उन्हें गो-सेवा करनेमें लज्जा नहीं आयी। वे स्वयं उसे चरानेके लिये जंगलमें ले जाते और इष्टदेवीकी भाँति उसकी सेवामें दत्तचित्त रहते। वे उसके बैठनेपर बैठते, खड़े होनेपर स्वयं खड़े हो जाते, उसके भरपेट चर लेनेपर ही स्वयं अपनी भूख शान्त करते और उसको जल पिलाकर ही स्वयं जल ग्रहण करते। एक दिन नन्दिनी हरी-हरी घासोंसे सुशोभित हिमालयकी कन्दरामें प्रवेश कर गयी। उस समय उसके हृदयमें तनिक भी भय नहीं था। राजा दिलीप हिमालयके सुन्दर शिखरकी शोभा निहार रहे थे। इतनेमें ही एक सिंहने आकर नन्दिनीको बलपूर्वक धर दबाया। राजाको उस सिंहके आनेकी आहटतक नहीं मालूम हुई। सिंहके चंगुलमें फँसकर नन्दिनीने दयनीय स्वरमें बड़े जोरसे चीत्कार किया। राजाने सहसा पर्वतकी ओरसे दृष्टि हटाकर गौके चिल्लानेका कारण जानना चाहा। उन्होंने देखा, गौका मुख आँसुओंसे भीगा हुआ है और उसके ऊपर भयङ्कर सिंह चढ़ा हुआ है। यह दुःखपूर्ण दृश्य देखकर राजा व्यथित हो उठे। उन्होंने सिंहके पंजेमें पड़ी हुई गौको फिरसे देखा और तरकससे एक बाण निकालकर उसे धनुषकी डोरीपर रखा तथा सिंहका वध करनेके लिये धनुषकी प्रत्यञ्चाको खींचा। इसी समय

सिंहने राजाकी ओर देखा। उसकी दृष्टि पड़ते ही उनका सारा शरीर जडवत् हो गया। अब उनमें बाण छोड़नेकी शक्ति न रही। इससे वे बड़े विस्मित हुए। जब राजाने देखा कि और किसी उपायसे गौकी रक्षा होनी कठिन है, तब वे स्वयं जाकर सिंहके सामने पड़ गये और उससे कहने लगे कि 'तू इस गायको छोड़ दे और इसके बदलेमें मेरे मांससे अपनी भूख शान्त कर ले।' वह सिंह और कोई नहीं था, नन्दिनीकी माया थी। राजाकी परीक्षाके लिये ही उसने यह माया रची थी। राजाके इस अनुपम त्यागको देखकर नन्दिनी प्रसन्न हो गयी। थोड़ी देरके बाद राजाने देखा कि कहीं कुछ नहीं है, अकेली नन्दिनी मौजसे घास चर रही है।

अर्जुनके गोरक्षा-व्रतकी बात भी प्रसिद्ध ही है। देवी द्रौपदीके सम्बन्धमें देवर्षि नारदके उपदेशसे पाण्डवोंमें परस्पर यह तय हो गया था कि द्रौपदी पारी-पारीसे पाँचों भाइयोंके पास रहेंगी और जिस समय वे एक भाईके पास एकान्तमें होंगी, उस समय कोई दूसरा भाई यदि उनके कमरेमें चला जायगा तो उसे बारह वर्षतक ब्रह्मचर्यपूर्वक वनमें रहना होगा। एक समयकी बात है, कुछ लुटेरे एक ब्राह्मणकी गौको चुराकर लिये जा रहे थे। ब्राह्मणने आकर अर्जुनके सामने पुकार की। अर्जुनके धनुष-बाण उस समय महाराज युधिष्ठिरके कमरेमें थे, जो उस समय देवी द्रौपदीके साथ एकान्तमें थे। अर्जुन धर्म-संकटमें पड़ गये। यदि वे शस्त्र लेने युधिष्ठिरके कमरेमें जाते हैं तो नियम-भङ्ग होता है, जिसके दण्डस्वरूप उन्हें बारह वर्षका वनवास भोगना पड़ता है; और यदि वे अपने धनुष-बाण नहीं लाते तो ब्राह्मणकी गौकी रक्षा नहीं हो सकती। अन्तमें उन्होंने दोनों पक्षोंके बलाबलका विचार करके यही निश्चय किया कि नियम-भङ्गके लिये कठोर-से-कठोर दण्ड भोगकर भी मुझे गौकी रक्षा हर हालतमें करनी चाहिये। यह निश्चय करके वे चुपचाप महाराज युधिष्ठिरके कमरेमें चले गये और अपने धनुष-बाणको ले आये। ब्राह्मणकी गौको डाकुओंके हाथसे छुड़ाकर ब्राह्मणके सुपुर्द कर दिया और फिर महाराज

युधिष्ठिरके पास आकर उनसे नियम-भङ्गके दण्डरूपमें बारह वर्षतक वनमें रहनेकी आज्ञा माँगी। आज्ञा ही नहीं माँगी, युधिष्ठिरके समझानेपर भी न रुके और वनवासके लिये चल दिये तथा इस प्रकार अपने लिये कठोर दण्ड स्वीकार करके भी अपने गौरक्षा-व्रतको निबाहा। जिन दिनों हम भारतवासी गौ-माताके लिये इस प्रकार प्राण देने और घोर-से-घोर कष्ट उठानेके लिये तैयार रहते थे, उन्हीं दिनों हम अपनेको सच्चा गोरक्षक कह सकते थे। आजकल तो हमलोग गो-रक्षाका खाली दम भरते हैं।

गो-रक्षाके लिये यह आवश्यक है कि हमलोग गौओंके प्रति अपने कर्तव्यको समझें, उनके लिये चारा सुगमतासे मिल सके—इसके लिये अधिक-से-अधिक गोचरभूमि छुड़वानेका प्रयत्न करें, गौएँ, बछड़े और बैल कसाइयोंके हाथोंमें तथा बूचड़खानोंमें न जाने पावें—इसके लिये प्राणपणसे चेष्टा करें, गौओंके पालन-पोषण तथा आरामका अधिक-से-अधिक ध्यान रखें, बूढ़ी तथा ठाठ गायोंकी तथा बछड़ोंकी रक्षाका भी समुचित प्रबन्ध करें, एवं गौओंकी नस्ल सुधारनेके लिये अच्छे-अच्छे साँड़ोंकी व्यवस्था करें। इन सब कामोंके लिये पुष्कल द्रव्यके साथ-साथ उत्साह एवं लगनकी आवश्यकता है। धनकी सहायता तो हमारे धनी भाइयोंको विशेषरूपसे करनी चाहिये। वैश्योंके लिये तो गो-रक्षा एक मुख्य व्यवसाय और धर्म माना गया है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

(१८।४४)

'खेती, गो-पालन तथा व्यापार—ये वैश्यके स्वाभाविक धर्म हैं।' कालके विपर्ययसे खेती और गो-पालन—इन दो कर्मोंको वैश्य-जातिने एक प्रकारसे छोड़ ही रखा है, व्यापार ही उनकी जीविकाका प्रधान साधन रह गया है। धार्मिक दृष्टिसे हमारे वैश्य भाइयोंको चाहिये कि व्यापारकी भाँति वे इन दो व्यवसायोंको भी अपनायें, जिससे इनकी भी उन्नति हो। हमारे नगरोंमें

लोगोंको शुद्ध दूध आदि गव्य पदार्थ सुगमतासे मिल सकें, इसके लिये डेरी फार्मोंका बृहद्रूपमें आयोजन करें। धार्मिक दृष्टिके साथ-साथ व्यवसायकी दृष्टिसे भी जब हम गो-पालनके कार्यको हाथमें लेंगे, तभी गौओंकी रक्षा और वृद्धि सम्भव है। गोधन तो हमारी प्रधान सम्पत्ति रही है। पूर्वकालमें धनवानोंकी हैसियत गौओंकी संख्यासे ही आँकी जाती थी। जिसके पास जितनी अधिक गौएँ होती थीं, वह उतना ही सम्पन्न माना जाता था। हमारे यहाँ भूमि और गौ—ये दो ही उत्पादनके प्रधान साधन माने गये हैं। भूमि और गौका परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध भी है। गौओंका पालन-पोषण बिना भूमिके नहीं हो सकता। गोचर-भूमियोंकी कमी इस समय गो-जातिके ह्रासका एक प्रधान कारण बन रही है। इसी प्रकार गौओंकी सहायताके बिना भूमि उपजाऊ नहीं हो सकती। आधुनिक विज्ञानके युगमें भी गोबरके समान और किसी खादका आविष्कार अबतक नहीं हो सका है। भूमिको जोतने तथा बराबर करनेके लिये भी बैल ही अधिक उपयोगमें आते हैं। संस्कृतमें भूमिका एक नाम 'गौ' भी है; क्योंकि पृथ्वी जब-जब अत्याचारोंके भारसे पीड़ित होती है, तब-तब वह गौका रूप धारण कर ब्रह्माजीके सामने अपना दुखड़ा रोती है। इस प्रकार खेती और गो-पालनका परस्पर अविच्छेद्य सम्बन्ध है और एकको दूसरेकी सहायताकी बहुत अधिक आवश्यकता है। वैश्य भाइयोंसे प्रार्थना है कि वे इन दोनों व्यवसायोंको भी अपने हाथमें लेकर इन्हें समुन्नत बनावें।

सारांश यह है कि वर्तमान समय लोक-सेवाके लिये अत्यन्त उपयोगी है। हमारे धनिक समाजको चाहिये कि इस सुनहरे अवसरसे लाभ उठाकर अपनी सम्पत्तिका सेवाके कार्योंमें अधिक-से-अधिक उपयोग करें। धनकी सार्थकता इसीमें है कि उसका जनता-जनार्दनकी सेवामें उपयोग किया जाय। यह मौका यदि हाथसे चला गया तो फिर सिवा पछतानेके और कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। धनके साथ-साथ जीवनका भी कोई भरोसा नहीं है। आज है और कल नहीं। आज यदि हम चल बसे तो फिर यह धन हमारे किस काम

आयेगा। इसलिये जीवन रहते इसे सत्कार्योंमें लगा देना चाहिये। कहते हैं—'तुरत दान महापुण्य।' यही बात सभी उत्तम कार्योंके सम्बन्धमें लागू समझनी चाहिये। किसी भी अच्छे कामको कलके लिये नहीं छोड़ना चाहिये, तुरंत कर ही डालना चाहिये। इसीलिये किसी कविने कहा है—

काल करै सो आज कर आज करै सो अब।
पलमें परलै होयगी बहुरि करैगो कब॥

हमें ऐसे कई धनियोंका पता है, जिन्होंने परोपकारके लिये बड़ी-बड़ी स्कीमें सोच रखी थीं; परन्तु इच्छा रहते भी वे अपनी उन स्कीमोंको पूरा नहीं कर पाये। वे अचानक मृत्युके गालमें चले गये। मृत्युपर किसीका वश नहीं चलता। वह किसीकी प्रतीक्षा नहीं करती। इसलिये शरीरमें जबतक श्वास है, तभीतक हमें इसका लाभ उठा लेना चाहिये। मरनेके बाद फिर हम कुछ नहीं कर सकेंगे। वर्तमान जीवनमें हम जो कुछ कमा लेंगे, वही आगे हमारे काम आयेगा। यदि जीवनभर हम पाप बटोरनेमें ही लगे रहे एवं न्याय-अन्याय, झूठ-कपट, चोरी और बेईमानीसे अर्थसंग्रह करनेमें तथा इच्छानुसार भोग भोगनेमें ही हमने अपने कर्तव्यकी इतिश्री कर दी तो हमारा यह मनुष्य-जीवन व्यर्थ ही नहीं जायगा, आगेके लिये भी हम बहुत बड़े दुःखका सामान तैयार कर जायँगे।

जो बात व्यक्तिके लिये है, वही समष्टिके लिये भी समझनी चाहिये। आज जगत्‌में चारों ओर जो हाहाकार मचा हुआ है, उसका कारण क्या है? पाप ही दुःखका मूल है और धर्म सुखकी जड़ है। हम आज दुःखके बाह्य कारणोंका अनुसन्धान करके उन्हींके दूर करनेमें लगे हुए हैं; इसीसे हमारे दुःख कम होनेके बदले बढ़ते ही जा रहे हैं। जबतक व्याधिका निदान ठीक नहीं होगा, तबतक हम चाहे कितना ही उपचार क्यों न करें, उसमें हमें सफलता नहीं मिल सकती। व्याधिका नाश करनेके लिये हमें उसके मूलका नाश करना होगा। आज जगत् जिस व्याधिसे ग्रस्त है, उसका मूल पापोंकी वृद्धि है। जबतक पापोंकी बाढ़ नहीं रुकेगी, तबतक हम कदापि व्याधिमुक्त

नहीं हो सकते। अतः यदि हम अपनेको तथा संसारको सुखी देखना चाहते हैं तो हमें यथाशक्ति पापोंसे बचकर धर्म-सञ्चय करना चाहिये। तभी हम और हमारे आस-पासके लोग सुखी रह सकेंगे। भगवान् व्यासने डंकेकी चोट कहा है—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

(महा० स्वर्गा० ५। ६२)

'मैं दोनों भुजाएँ उठा चिल्ला-चिल्लाकर कहता हूँ, पर मेरी बात कोई नहीं सुनता। भाइयो! धर्मसे ही धन और सुखकी प्राप्ति होती है; फिर क्यों नहीं धर्मका सेवन करते?' परन्तु हम इन त्रिकालदर्शी महर्षियोंकी हितभरी वाणीको सुनकर भी अनसुनी कर देते हैं। हम चाहते तो हैं सुख, पर चलते हैं दुःखके रास्ते। चाहते हैं दुःखसे छूटना, पर दुःखके हेतु पापको गले लगाये हुए हैं। महर्षि व्यास यही कहते हैं—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

यह मनुष्य-देह हमें बड़े पुण्योंसे मिला है। इतना ही नहीं, भारतवर्ष-जैसा देश, हिंदू-धर्म-जैसा धर्म और कलियुग-जैसा युग—हमें प्राप्त हुआ है। महात्माओंने कलियुगको सभी युगोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ बताया है। अन्य युगोंकी अपेक्षा इसमें कल्याण बहुत सुगमतासे हो सकता है। गोसाईं तुलसीदासजीने कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

ऐसे अपूर्व संयोगको पाकर भी यदि हम सच्चे सुखसे वञ्चित रहे, अनित्य विषय-सुखोंमें ही रमा किये और पाप बटोरनेमें ही यदि हमने अपना अमूल्य जीवन खो दिया तो फिर हमसे बढ़कर मूर्ख और कृतघ्न कौन होगा? गोस्वामी

तुलसीदासजीने ऐसे लोगोंको आत्महत्यारा कहा है। वे कहते हैं—

जो न तरइ भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

सच्चा सुख केवल परमात्मामें है। इसलिये जो सच्चा सुख चाहते हैं, उन्हें अन्य सब ओरसे मुँह मोड़कर एकमात्र परमात्माकी ही शरण लेनी चाहिये—उन्हींमें मन लगाकर उन्हींकी भक्ति, उन्हींकी सेवा करनी चाहिये। जगत्को जनार्दन समझकर जगत्की सेवा करना भी भगवान्की ही सेवा है। फिर हमारे लिये सर्वत्र कल्याण-ही-कल्याण है। जो लोग परमात्मासे विमुख रहकर विषयोंमें ही मन लगाये रहते हैं, उन अज्ञानी जीवोंके लिये क्या कहा जाय। उनकी दशा तो उस अबोध विधवा बालिकाकी-सी है, जिसे पति-वियोगके दुःखका कुछ भी अनुभव नहीं होता। वह तो सदाकी भाँति खाने-पीने और खेलनेमें मस्त रहती है। उसे पता नहीं रहता कि आगे चलकर उसे जीवनमें कैसे-कैसे कष्टोंका सामना करना पड़ेगा, कैसी-कैसी विपत्तियाँ झेलनी होंगी। उसके माता-पिता, सगे-सम्बन्धी एवं अड़ोसी-पड़ोसी उसकी दशापर तरस खाते हैं, रोते-कलपते हैं और उसके भावी कष्टोंका स्मरण करके बिसूरते हैं। परन्तु वह भोली-भाली बालिका उनके इस प्रकार रोने-धोनेका कारण नहीं समझ पाती। इसी प्रकार भगवद्विमुख जीवोंको देखकर संत-महात्मा उनकी दशापर तरस खाते हैं और उन्हें आनेवाली विपत्तिकी सूचना देते हैं; परन्तु फिर भी वे अज्ञानी जीव चेतते नहीं। अपने राग-रंग, भोग-विलासमें ही भूले रहते हैं। हमें चाहिये कि उन महात्मा पुरुषोंकी चेतावनीपर ध्यान देकर समय रहते-रहते चेत जायँ; नहीं तो फिर हमारी वही दशा होगी।

का बरषा सब कृषी सुखानें। समय चुकें पुनि का पछितानें॥

भगवदाश्रयसे लोक-परलोकका कल्याण

लौकिक-पारलौकिक समस्त दुःखोंके नाश एवं समस्त लौकिक-पारमार्थिक सम्पत्तिकी सम्प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन है—भगवान्‌का अनन्य आश्रय लेकर सच्चे मनसे उनका भजन करना। और लौकिक-पारलौकिक समस्त सुखोंके नाश एवं समस्त लौकिक-पारमार्थिक सम्पत्तिके सर्वनाशका साधन है—भोगोंका अनन्य आश्रय लेकर मनसे भगवान्‌को भुला देना। आज हम भगवान्‌को भूल गये हैं और हमारा जीवन केवल भोगोंका आश्रयी बन गया है। इसीसे इतने दुःख, संताप और विनाशके पहाड़ हमपर लगातार टूट रहे हैं। जो लोग क्रियाशील और विविध-कर्मसमर्थ हैं, उनको भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये भगवान्‌का स्मरण करते हुए समयानुकूल स्वधर्मोचित कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये और जो अल्पसमर्थ या असमर्थ हैं, उन्हें आर्त तथा दीनभावसे भगवत्प्रीतिके द्वारा धर्मके अभ्युदय और विश्व-शान्तिके लिये अनन्यभावसे भगवान्‌को पुकारना चाहिये।

हमारी अनन्य पुकार कभी व्यर्थ नहीं जायगी। हममें होना चाहिये द्रौपदीका-सा विश्वास, होनी चाहिये गजराजकी-सी निष्ठा और सबसे बढ़कर हममें होनी चाहिये प्रह्लादकी-सी आस्तिकता, जिसके वचनको सत्य करनेके लिये भगवान् नृसिंहरूपसे खम्भेमेंसे प्रकट हुए—**'सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितम्।'** (भागवत ७।८।१८)

विपत्ति, कष्ट, असहाय स्थिति, अमङ्गल और अन्याय तभीतक हमारे सामने हैं, जबतक हम भगवान्‌को विश्वासपूर्वक नहीं पुकारते। एक महाशयने यह घटना सुनायी थी। एक घरमें गुंडोंने पतिको पकड़ लिया और दो गुंडे

उसकी स्त्रीको नंगी करके उसपर बलात्कार करनेको तैयार हुए। दोनों पति-पत्नी निरुपाय थे—असहाय थे। पत्नीने आर्त होकर—रोकर भगवान्‌को पुकारा। उसे द्रौपदीकी याद आ गयी। बस, तत्काल ही वे दोनों गुंडे आपसमें लड़ गये। एकने दूसरेको छूरा मार दिया। उसके गिरते ही पति-पत्नीको छोड़कर शेष गुंडे भाग गये और इस बीचमें पत्नीको कंधेपर उठाकर पतिको बचकर भाग निकलनेका अवसर मिल गया।

भारतकी सती देवियाँ आज द्रौपदीकी भाँति भगवान्‌को पुकारें तो भगवान् कहीं गये नहीं हैं। वे तुरंत किसी भी रूपमें प्रकट होकर सती देवियोंके सारे दुःख हर लें और उसी क्षणसे उनको दुःख पहुँचानेवालोंके विनाशकी भी गारंटी मिल जाय।

दुष्ट दुःशासनके हाथोंमें पड़ी हुई असहाया द्रौपदीने आर्त होकर मन-ही-मन भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करके कहा था—

गोविन्द ! द्वारकावासिन् ! कृष्ण ! गोपीजनप्रिय ॥
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव ।
हे नाथ ! हे रमानाथ ! व्रजनाथार्तिनाशन ।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन ॥
कृष्ण ! कृष्ण ! महायोगिन् ! विश्वात्मन् ! विश्वभावन ।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम् ॥

(महा० सभा० ६८ । ४१-४३)

'हे गोविन्द ! द्वारकावासी सच्चिदानन्द प्रेमधन ! गोपीजनवल्लभ ! सर्वशक्तिमान् प्रभो ! कौरव मुझे अपमानित कर रहे हैं। क्या यह आपको मालूम नहीं है ? हे नाथ ! हे रमानाथ ! हे व्रजनाथ ! हे आर्तिनाशन जनार्दन ! मैं कौरवोंके समुद्रमें डूबी जा रही हूँ। आप मेरा उद्धार कीजिये। हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगी ! हे विश्वात्मा और विश्वके जीवनदाता गोविन्द ! मैं कौरवोंसे घिरकर संकटमें पड़ गयी हूँ। आपके शरण हूँ। आप मेरी रक्षा कीजिये।'

द्रौपदीकी आर्त पुकार सुनकर भक्तवत्सल प्रभु उसी क्षण द्वारकासे दौड़े आये और द्रौपदीको वस्त्र दान कर उसकी लाज बचायी। पर दुष्ट दुःशासनने द्रौपदीके जिन केशोंको खींचा था, वे खुले ही रहे दुःशासनको दण्ड मिलनेके दिनतक। द्रौपदीके खुले केश थे। पाण्डवोंके साथ वह वनमें रहती थी। भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंसे मिलने गये। वहाँ द्रौपदीने एकान्तमें रोकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'मैं पाण्डवोंकी पत्नी, धृष्टद्युम्नकी बहिन और तुम्हारी सखी होकर भी कौरवोंकी सभामें घसीटी जाऊँ! यह कितने दुःखकी बात है। भीमसेन और अर्जुन बड़े बलवान् होनेपर भी मेरी रक्षा नहीं कर सके! धिक्कार है इनके बल-पौरुषको! इनके जीते-जी दुर्योधन क्षणभरके लिये भी कैसे जीवित है? श्रीकृष्ण! दुष्ट दुःशासनने भरी सभामें मुझ सतीकी चोटी पकड़कर घसीटा और ये पाण्डव टुकुर-टुकुर देखते रहे!' इतना कहकर द्रौपदी रोने लगी। उसकी साँस लंबी-लंबी चलने लगी और उसने गद्गद होकर आवेशसे कहा—'श्रीकृष्ण! ये पति-पुत्र, पिता-भ्राता मेरे कोई नहीं हैं; पर क्या तुम भी मेरे नहीं रहे? श्रीकृष्ण! तुम मेरे सम्बन्धी हो, मैं अग्निकुण्डसे उत्पन्न पवित्र रमणी हूँ; तुम्हारे साथ मेरा पवित्र प्रेम है और तुमपर मेरा अधिकार है एवं तुम मेरी रक्षा करनेमें समर्थ भी हो। इसलिये तुम्हें मेरी रक्षा करनी ही होगी।' तब श्रीकृष्णने रोती हुई द्रौपदीको आश्वासन देकर कहा—

रोदिष्यन्ति स्त्रियो ह्येवं येषां क्रुद्धासि भामिनि।
बीभत्सुशरसंच्छन्नाञ्छोणितौघपरिप्लुतान्॥
निहतान् वल्लभान् वीक्ष्य शयानान् वसुधातले।
यत् समर्थं पाण्डवानां तत् करिष्यामि मा शुचः॥
सत्यं ते प्रतिजानामि राज्ञां राज्ञी भविष्यसि।
पतेद् द्यौर्हिमवाञ्छीर्येत् पृथिवी शकलीभवेत्॥
शुष्येत्तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत्।

(महा० वन० १२। १२८-१३१)

'कल्याणी ! तुम जिनपर क्रोधित हुई हो, उनकी स्त्रियाँ भी थोड़े ही दिनोंमें अर्जुनके भयानक बाणोंसे कटकर खूनसे लथपथ हो जमीनपर पड़े हुए अपने पतियोंको देखकर तुम्हारी ही भाँति रुदन करेंगी। मैं वही काम करूँगा, जो पाण्डवोंके अनुकूल होगा। तुम शोक मत करो। मैं तुमसे प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम राज-रानी बनोगी। चाहे आकाश फट पड़े, हिमालय टुकड़े-टुकड़े हो जाय, पृथ्वी चूर-चूर हो जाय और समुद्र सूख जाय, परन्तु द्रौपदी ! मेरी बात कभी असत्य नहीं हो सकती।'

ये द्रौपदीके दुःखोंका नाश करनेवाले भगवान् आज कहीं चले नहीं गये हैं। द्रौपदीके सदृश विश्वासपूर्ण हृदयसे उन्हें पुकारनेवालोंकी कमी हो गयी है। यदि दुःखसागरसे सहज ही पार उतरना है तो विश्वास करके अनन्यभावसे भगवान्‌को पुकारना चाहिये। भारतके हिंदुओंकी यह श्रद्धा जिस दिनसे घटने लगी, जबसे उनकी यह प्रार्थनाकी ध्वनि क्षीण हो गयी, तभीसे उनपर दुःख आने लगे और तभीसे वे सन्मार्ग और सुखके सुपथसे भ्रष्ट हो गये ! अब फिर श्रद्धा-विश्वासके साथ भगवान्‌को पुकारिये। देखिये, आपके इहलौकिक दुःख दूर होते हैं या नहीं और देखिये, आपको भगवान्‌की अमृतमयी अनुकम्पासे भगवान्‌के दुर्लभ चरणारविन्दकी प्राप्ति सहज ही होती है या नहीं !